स्वरूप की धारणा, जिसमें सारे देवता तथा उनके लोक सम्मिलित हैं, *अधिदैवत* कहलाती है। प्रत्येक शरीर में आत्मा सहित परमात्मा का वास होता है, जो भगवान् कृष्ण का अंश स्वरूप है। यह परमात्मा *अधियज्ञ* कहलाता है और हृदय में स्थित होता है। इस श्लोक के प्रसंग में *एव* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके द्वारा भगवान् बल देकर कहते हैं कि परमात्मा उनसे भिन्न नहीं है। यह परमात्मा प्रत्येक आत्मा के पास आसीन है और आत्मा के कार्यकलापों का साक्षी है तथा आत्मा की विभिन्न चेतनाओं का उद्गम है। यह परमात्मा प्रत्येक आत्मा को मुक्त भाव से कार्य करने की छूट देता है और उसके कार्यों पर निगरानी रखता है। परमेश्वर के इन विविध स्वरूपों के सारे कार्य उस कृष्णभावनाभावित भक्त को स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं, जो भगवान् की दिव्यसेवा में लगा रहता है। *अधिदैवत* नामक भगवान् के विराट स्वरूप का चिन्तन उन नवदीक्षितों के लिए है जो भगवान् के परमात्मा स्वरूप तक नहीं पहुँच पाते। अतः उन्हें परामर्श दिया जाता है कि वे उस विराट पुरुष का चिन्तन करें जिसके पाँव अधोलोक हैं, जिसके नेत्र सूर्य तथा चन्द्र हैं और जिसका सिर उच्चलोक है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ ५॥

अन्त-काले—मृत्यु के समय; **च**—भी; **माम्**—मुझको; **एव**—निश्चय ही; **स्मरन्**—स्मरण करते हुए; **मुक्त्वा**—त्याग कर; **कलेवरम्**—शरीर को; **यः**—जो; **प्रयाति**—जाता है; **सः**—वह; **मत्-भावम्**—मेरे स्वभाव को; **याति**—प्राप्त करता है; **न**—नहीं; **अस्ति**—है; **अत्र**—यहाँ; **संशयः**—सन्देह।

और जीवन के अन्त में जो केवल मेरा स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह तुरन्त मेरे स्वभाव को प्राप्त करता है। इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।

तात्पर्य : इस श्लोक में कृष्णभावनामृत की महत्ता दर्शित की गई है। जो कोई भी कृष्णभावनामृत में अपना शरीर छोड़ता है, वह तुरन्त परमेश्वर के दिव्य स्वभाव (*मद्भाव*) को प्राप्त होता है। परमेश्वर शुद्धातिशुद्ध है, अतः जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित होता है, वह भी शुद्धातिशुद्ध होता है। *स्मरन्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण का स्मरण उस अशुद्ध जीव से नहीं हो सकता जिसने भक्ति में रहकर कृष्णभावनामृत का अभ्यास नहीं किया। अतः मनुष्य को चाहिए कि जीवन के प्रारम्भ से ही कृष्णभावनामृत का अभ्यास करे। यदि जीवन के अन्त में सफलता वांछनीय है तो कृष्ण का स्मरण करना अनिवार्य है। अतः मनुष्य को निरन्तर *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस महामन्त्र का जप करना चाहिए। भगवान् चैतन्य ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को वृक्ष के समान सहिष्णु होना चाहिए (*तरोरिवसहिष्णुना*)। *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—का जप करने वाले व्यक्ति को अनेक व्यवधानों का सामना करना पड़ सकता है। तो भी इस महामन्त्र का जप करते रहना चाहिए, जिससे जीवन के अन्त समय कृष्णभावनामृत का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त हो सके।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥ ६॥

यम् यम्—जिस; **वा अपि**—किसी भी; **स्मरन्**—स्मरण करते हुए; **भावम्**—स्वभाव को; **त्यजति**—परित्याग करता है; **अन्ते**—अन्त में; **कलेवरम्**—शरीर को; **तम् तम्**—वैसा ही; **एव**—निश्चय ही; **एति**—प्राप्त करता है; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **सदा**—सदैव; **तत्**—उस; **भाव**—भाव; **भावितः**—स्मरण करता हुआ।

हे कुन्तीपुत्र! शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, वह उस उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है।

तात्पर्य : यहाँ पर मृत्यु के समय अपना स्वभाव बदलने की विधि का वर्णन है। जो व्यक्ति अन्त समय कृष्ण का चिन्तन करते हुए शरीर त्याग करता है, उसे परमेश्वर का दिव्य स्वभाव प्राप्त होता है। किन्तु यह सत्य नहीं है कि यदि कोई मृत्यु के समय कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ सोचता है तो उसे भी दिव्य अवस्था प्राप्त होती है। हमें इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए। तो फिर कोई मन की सही अवस्था में किस प्रकार मरे? महापुरुष होते हुए भी महाराज भरत ने मृत्यु के समय एक हिरन का चिन्तन किया, अतः अगले जीवन में हिरन के शरीर में उनका देहान्तरण हुआ। यद्यपि हिरन के रूप में उन्हें अपने विगत कर्मों की स्मृति थी, किन्तु उन्हें पशु शरीर धारण करना ही पड़ा। निस्सन्देह मनुष्य के जीवन भर के विचार संचित होकर मृत्यु के समय उसके विचारों को प्रभावित करते हैं, अतः इस जीवन से उसका अगला जीवन बनता है। अगर कोई इस जीवन में सतोगुणी होता है और निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करता है तो सम्भावना यही है कि मृत्यु के समय उसे कृष्ण का स्मरण बना रहे। इससे उसे कृष्ण के दिव्य स्वभाव को प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। यदि कोई दिव्यरूप से कृष्ण की सेवा में लीन रहता है तो उसका अगला शरीर दिव्य (आध्यात्मिक) ही होगा, भौतिक नहीं। अतः जीवन के अन्त समय अपने स्वभाव को सफलतापूर्वक बदलने के लिए *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे* का जप करना सर्वश्रेष्ठ विधि है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ॥ ७॥

तस्मात्—अतएव; **सर्वेषु**—समस्त; **कालेषु**—कालों में; **माम्**—मुझको; **अनुस्मर**—स्मरण करते रहो; **युध्य**—युद्ध करो; **च**—भी; **मयि**—मुझमें; **अर्पित**—शरणागत होकर; **मनः**—मन; **बुद्धिः**—बुद्धि; **माम्**—मुझको; **एव**—निश्चय ही; **एष्यसि**—प्राप्त करोगे; **असंशयः**—निस्सन्देह ही।

अतएव, हे अर्जुन! तुम्हें सदैव कृष्ण रूप में मेरा चिन्तन करना चाहिए और साथ ही युद्ध करने के कर्तव्य को भी पूरा करना चाहिए। अपने कर्मों को मुझे समर्पित करके तथा अपने मन एवं बुद्धि को मुझमें स्थिर करके तुम निश्चित रूप से मुझे प्राप्त कर सकोगे।

तात्पर्य : अर्जुन को दिया गया यह उपदेश भौतिक कार्यों में व्यस्त रहने वाले समस्त व्यक्तियों के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण है। भगवान् यह नहीं कहते कि कोई अपने कर्तव्यों को त्याग दे। मनुष्य उन्हें करते हुए साथ-साथ *हरे कृष्ण* का जप करके कृष्ण का चिन्तन कर सकता है। इससे मनुष्य भौतिक कल्मष से मुक्त हो जायेगा और अपने मन तथा बुद्धि को कृष्ण में प्रवृत्त करेगा। कृष्ण का नाम-जप करने से मनुष्य परमधाम कृष्णलोक को प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥

अभ्यास-योग—अभ्यास से; **युक्तेन**—ध्यान में लगे रहकर; **चेतसा**—मन तथा बुद्धि से; **न अन्य गामिना**—बिना विचलित हुए; **परमम्**—परम; **पुरुषम्**—भगवान् को; **दिव्यम्**—दिव्य; **याति**—प्राप्त करता है; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **अनुचिन्तयन्**—निरन्तर चिन्तन करता हुआ।

हे पार्थ! जो व्यक्ति मेरा स्मरण करने में अपना मन निरन्तर लगाये रखकर अविचलित भाव से भगवान् के रूप में मेरा ध्यान करता है, वह मुझको अवश्य ही प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् कृष्ण अपने स्मरण किये जाने की महत्ता पर बल देते हैं। महामन्त्र *हरे कृष्ण* का जप करने से कृष्ण की स्मृति हो आती है। भगवान् के शब्दोच्चार (ध्वनि) के जप तथा श्रवण के अभ्यास से मनुष्य के कान, जीभ तथा मन व्यस्त रहते हैं। इस ध्यान का अभ्यास अत्यन्त सुगम है और इससे परमेश्वर को प्राप्त करने में सहायता मिलती है। *पुरुषम्* का अर्थ भोक्ता है। यद्यपि सारे जीव भगवान् की तटस्था शक्ति हैं, किन्तु वे भौतिक कल्मष से युक्त हैं। वे स्वयं को भोक्ता मानते हैं, जबकि वे होते नहीं। यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् ही अपने विभिन्न स्वरूपों तथा नारायण, वासुदेव आदि स्वांशों के रूप में परम भोक्ता हैं।

भक्त *हरे कृष्ण* का जप करके अपनी पूजा के लक्ष्य परमेश्वर का, उनके किसी भी रूप नारायण, कृष्ण, राम आदि का निरन्तर चिन्तन कर सकता है। ऐसा करने से वह शुद्ध हो जाता है और निरन्तर जप करते रहने से जीवन के अन्त में वह भगवद्धाम को जाता है। योग अन्तःकरण के परमात्मा का ध्यान है। इसी प्रकार *हरे कृष्ण* के जप द्वारा मनुष्य अपने मन को परमेश्वर में स्थिर करता है। मन चंचल है, अतः आवश्यक है कि मन को बलपूर्वक कृष्ण-चिन्तन में लगाया जाय। प्रायः उस एक प्रकार के कीट का दृष्टान्त दिया जाता है जो तितली बनना चाहता है और वह इसी जीवन में तितली बन जाता है। इसी प्रकार यदि हम निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करते रहें, तो यह निश्चित है कि हम जीवन के अन्त में कृष्ण जैसा शरीर प्राप्त कर सकेंगे।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥

कविम्—सर्वज्ञ; **पुराणम्**—प्राचीनतम, पुरातन; **अनुशासितारम्**—नियन्ता; **अणोः**—अणु की तुलना में; **अणीयांसम्**—लघुतर; **अनुस्मरेत्**—सदैव सोचता है; **यः**—जो; **सर्वस्य**—हर वस्तु का; **धातारम्**—पालक; **अचिन्त्य**—अकल्पनीय; **रूपम्**—जिसका स्वरूप; **आदित्य-वर्णम्**—सूर्य के समान प्रकाशमान; **तमसः**—अंधकार से; **परस्तात्**—दिव्य, परे।

मनुष्य को चाहिए कि परमपुरुष का ध्यान सर्वज्ञ, पुरातन, नियन्ता, लघुतम से भी लघुतर, प्रत्येक का पालनकर्ता, समस्त भौतिकबुद्धि से परे, अचिन्त्य तथा नित्य पुरुष के रूप में करे। वे सूर्य की भाँति तेजवान हैं और इस भौतिक प्रकृति से परे, दिव्य रूप हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में परमेश्वर के चिन्तन की विधि का वर्णन हुआ है। सबसे प्रमुख बात यह है कि वे निराकार या शून्य नहीं हैं। कोई निराकार या शून्य का चिन्तन कैसे कर सकता है? यह अत्यन्त कठिन है। किन्तु कृष्ण के चिन्तन की विधि अत्यन्त सुगम है और तथ्य रूप में यहाँ वर्णित है। पहली बात तो यह है कि भगवान् पुरुष हैं—हम राम तथा कृष्ण को पुरुष रूप में सोचते हैं। चाहे कोई राम का चिन्तन करे या कृष्ण का, वे जिस तरह के हैं उसका वर्णन *भगवद्गीता* के इस श्लोक में किया गया है। भगवान् कवि हैं अर्थात् वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञाता हैं, अतः वे सब कुछ जानने वाले हैं। वे प्राचीनतम पुरुष हैं क्योंकि वे समस्त वस्तुओं के उद्गम हैं, प्रत्येक वस्तु उन्हीं से उत्पन्न है। वे ब्रह्माण्ड के परम नियन्ता भी हैं। वे मनुष्यों के पालक तथा शिक्षक हैं। वे अणु से भी सूक्ष्म हैं। जीवात्मा बाल के अग्र भाग के दस हजारवें अंश के बराबर है, किन्तु भगवान् अचिन्त्य रूप से इतने लघु हैं कि वे इस अणु के भी हृदय में प्रविष्ट रहते हैं। इसीलिए वे लघुतम से भी लघुतर कहलाते हैं। परमेश्वर के रूप में वे परमाणु में तथा लघुतम के भी हृदय में प्रवेश कर सकते हैं और परमात्मा रूप में उसका नियन्त्रण करते हैं। इतना लघु होते हुए भी वे सर्वव्यापी हैं और सबों का पालन करने वाले हैं। उनके द्वारा इन लोकों का धारण होता है। प्रायः हम आश्चर्य करते हैं कि ये विशाल लोक किस प्रकार वायु में तैर रहे हैं। यहाँ यह बताया गया है कि परमेश्वर अपनी अचिन्त्य शक्ति द्वारा इन समस्त विशाल लोकों तथा आकाशगंगाओं को धारण किए हुए हैं। इस प्रसंग में *अचिन्त्य* शब्द अत्यन्त सार्थक है। ईश्वर की शक्ति हमारी कल्पना या विचार शक्ति के परे है, इसीलिए *अचिन्त्य* कहलाती है। इस बात का खंडन कौन कर सकता है? वे इस भौतिक जगत् में व्याप्त हैं फिर भी इससे परे हैं। हम इसी भौतिक जगत् को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते जो आध्यात्मिक जगत् की तुलना में नगण्य है तो फिर हम कैसे जान सकते हैं कि इसके परे क्या है? *अचिन्त्य* का अर्थ है इस भौतिक जगत् से परे जिसे हमारा तर्क, नीतिशास्त्र तथा दार्शनिक चिन्तन छू नहीं पाता और जो अकल्पनीय है। अतः बुद्धिमान मनुष्यों को चाहिए कि व्यर्थ के तर्कों तथा चिन्तन से दूर रहकर वेदों, *भगवद्गीता* तथा *भागवत* जैसे शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है, उसे स्वीकार कर लें और उनके द्वारा सुनिश्चित किए गए नियमों का पालन करें। इससे ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥१०॥

प्रयाण-काले—मृत्यु के समय; **मनसा**—मन से; **अचलेन**—अचल, दृढ़; **भक्त्या**—भक्ति से; **युक्तः**—लगा हुआ; **योग-बलेन**—योग शक्ति के द्वारा; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **भ्रुवोः**—दोनों भौहों के; **मध्ये**—मध्य में; **प्राणम्**—प्राण को; **आवेश्य**—स्थापित करे; **सम्यक्**—पूर्णतया; **सः**—वह; **तम्**—उस; **परम्**—दिव्य; **पुरुषम्**—भगवान् को; **उपैति**—प्राप्त करता है; **दिव्यम्**—दिव्य भगवद्धाम को।

मृत्यु के समय जो व्यक्ति अपने प्राण को भौहों के मध्य स्थिर कर लेता है और योगशक्ति के द्वारा अविचलित मन से पूर्णभक्ति के साथ परमेश्वर के स्मरण में अपने को लगाता है, वह निश्चित रूप से भगवान् को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि मृत्यु के समय मन को भगवान् की भक्ति में स्थिर करना चाहिए। जो लोग योगाभ्यास करते हैं उनके लिए संस्तुति की गई है कि वे प्राण को भौहों के बीच (आज्ञा चक्र)में ले आयें। यहाँ पर षट्चक्रयोग के अभ्यास का प्रस्ताव है, जिसमें छः चक्रों पर ध्यान लगाया जाता है। परन्तु निरन्तर कृष्णभावनामृत में लीन रहने के कारण शुद्ध भक्त भगवत्कृपा से मृत्यु के समय योगाभ्यास के बिना भगवान् का स्मरण कर सकता है। इसकी व्याख्या चौदहवें श्लोक में की गई है।

इस श्लोक में *योगबलेन* शब्द का विशिष्ट प्रयोग महत्त्वपूर्ण है क्योंकि योग के अभाव में चाहे वह षट्चक्रयोग हो या भक्तियोग—मनुष्य कभी भी मृत्यु के समय इस दिव्य अवस्था (भाव) को प्राप्त नहीं होता। कोई भी मृत्यु के समय परमेश्वर का सहसा स्मरण नहीं कर पाता, उसे किसी न किसी योग का, विशेषतया भक्तियोग का अभ्यास होना चाहिए। चूँकि मृत्यु के समय मनुष्य का मन अत्यधिक विचलित रहता है, अतः अपने जीवन में मनुष्य को योग के माध्यम से अध्यात्म का अभ्यास करना चाहिए।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥११॥

यत्—जिस; **अक्षरम्**—अक्षर ॐ को; **वेद-विदः**—वेदों के ज्ञाता; **वदन्ति**—कहते हैं; **विशन्ति**—प्रवेश करते हैं; **यत्**—जिसमें; **यतयः**—बड़े-बड़े मुनि; **वीत-रागाः**—संन्यास-आश्रम में रहने वाले संन्यासी; **यत्**—जो; **इच्छन्तः**—इच्छा करने वाले; **ब्रह्मचर्यम्**—ब्रह्मचर्य का; **चरन्ति**—अभ्यास करते हैं; **तत्**—उस; **ते**—तुमको; **पदम्**—पद को; **सङ्ग्रहेण**—संक्षेप में; **प्रवक्ष्ये**—मैं बतलाऊँगा।

जो वेदों के ज्ञाता हैं, जो ओंकार का उच्चारण करते हैं और जो संन्यास आश्रम के बड़े-बड़े मुनि हैं, वे ब्रह्म में प्रवेश करते हैं। ऐसी सिद्धि की इच्छा करने वाले ब्रह्मचर्यव्रत का अभ्यास करते हैं। अब मैं तुम्हें वह विधि बताऊँगा, जिससे कोई भी व्यक्ति मुक्ति-लाभ कर सकता है।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण अर्जुन के लिए षट्चक्रयोग की विधि का अनुमोदन कर चुके हैं, जिसमें प्राण को भौहों के मध्य स्थिर करना होता है। यह मानकर कि हो सकता है अर्जुन को

षट्चक्रयोग अभ्यास न आता हो, कृष्ण अगले श्लोकों में इसकी विधि बताते हैं। भगवान् कहते हैं कि ब्रह्म यद्यपि अद्वितीय है, किन्तु उसके अनेक स्वरूप होते हैं। विशेषतया निर्विशेषवादियों के लिए *अक्षर* या *ओंकार* ब्रह्म है। कृष्ण यहाँ पर निर्विशेष ब्रह्म के विषय में बता रहे हैं जिसमें संन्यासी प्रवेश करते हैं।

ज्ञान की वैदिक पद्धति में छात्रों को प्रारम्भ से गुरु के पास रहने से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए ओंकार का उच्चारण तथा परम निर्विशेष ब्रह्म की शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार वे ब्रह्म के दो स्वरूपों से परिचित होते हैं। यह प्रथा छात्रों के आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए अत्यावश्यक है, किन्तु इस समय ऐसा ब्रह्मचर्य जीवन (अविवाहित जीवन) बिता पाना बिल्कुल सम्भव नहीं है। विश्व का सामाजिक ढाँचा इतना बदल चुका है कि छात्र जीवन के प्रारम्भ से ब्रह्मचर्य जीवन बिताना संभव नहीं है। यद्यपि विश्व में ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के लिए अनेक संस्थाएँ हैं, किन्तु ऐसी मान्यता प्राप्त एक भी संस्था नहीं है जहाँ ब्रह्मचर्य के सिद्धान्तों में शिक्षा प्रदान की जा सके। ब्रह्मचर्य के बिना आध्यात्मिक जीवन में उन्नति कर पाना अत्यन्त कठिन है। अतः इस कलियुग के लिए शास्त्रों के आदेशानुसार भगवान् चैतन्य ने घोषणा की है कि भगवान् कृष्ण के पवित्र नाम—*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—के जप के अतिरिक्त परमेश्वर के साक्षात्कार का कोई अन्य उपाय नहीं है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥१२॥

सर्व-द्वाराणि—शरीर के समस्त द्वारों को; **संयम्य**—वश में करके; **मनः**—मन को; **हृदि**—हृदय में; **निरुध्य**—बन्द कर; **च**—भी; **मूर्ध्नि**—सिर पर; **आधाय**—स्थिर करके; **आत्मनः**—अपने; **प्राणम्**—प्राणवायु को; **आस्थितः**—स्थित; **योग-धारणाम्**—योग की स्थिति।

समस्त ऐन्द्रिय क्रियाओं से विरक्ति को योग की स्थिति (योगधारणा) कहा जाता है। इन्द्रियों के समस्त द्वारों को बन्द करके तथा मन को हृदय में और प्राणवायु को सिर पर केन्द्रित करके मनुष्य अपने को योग में स्थापित करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में बताई गई विधि से योगाभ्यास के लिए सबसे पहले इन्द्रियभोग के सारे द्वार बन्द करने होते हैं। यह *प्रत्याहार* अथवा इन्द्रियविषयों से इन्द्रियों को हटाना कहलाता है। इसमें ज्ञानेन्द्रियों—नेत्र, कान, नाक, जीभ तथा स्पर्श को पूर्णतया वश में करके उन्हें इन्द्रियतृप्ति में लिप्त होने नहीं दिया जाता। इस प्रकार मन हृदय में स्थित परमात्मा पर केन्द्रित होता है और प्राणवायु को सिर के ऊपर तक चढ़ाया जाता है। इसका विस्तृत वर्णन छठे अध्याय में हो चुका है। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है अब यह विधि व्यावहारिक नहीं है। सबसे उत्तम विधि तो कृष्णभावनामृत है। यदि कोई भक्ति में अपने मन को कृष्ण में स्थिर करने में समर्थ होता है, तो उसके लिए अविचलित दिव्य समाधि में बने रहना सुगम हो जाता है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥१३॥

ॐ—ओंकार; **इति**—इस तरह; **एक-अक्षरम्**—एक अक्षर; **ब्रह्म**—परब्रह्म का; **व्याहरन्**—उच्चारण करते हुए; **माम्**—मुझको (कृष्ण को); **अनुस्मरन्**—स्मरण करते हुए; **यः**—जो; **प्रयाति**—जाता है; **त्यजन्**—छोड़ते हुए; **देहम्**—इस शरीर को; **सः**—वह; **याति**—प्राप्त करता है; **परमाम्**—परम; **गतिम्**—गन्तव्य, लक्ष्य।

इस योगाभ्यास में स्थित होकर तथा अक्षरों के परम संयोग यानी ओंकार का उच्चारण करते हुए यदि कोई भगवान् का चिन्तन करता है और अपने शरीर का त्याग करता है, तो वह निश्चित रूप से आध्यात्मिक लोकों को जाता है।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि ओम्, ब्रह्म तथा भगवान् कृष्ण परस्पर भिन्न नहीं हैं। ओम्, कृष्ण की निर्विशेष ध्वनि है, लेकिन *हरे कृष्ण* में यह ओम् सन्निहित है। इस युग के लिए *हरे कृष्ण* मन्त्र जप की स्पष्ट संस्तुति है। अतः यदि कोई—*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस मन्त्र का जप करते हुए शरीर त्यागता है तो वह अपने अभ्यास के गुणानुसार आध्यात्मिक लोकों में से किसी एक लोक को जाता है। कृष्ण के भक्त कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन को जाते हैं। सगुणवादियों के लिए आध्यात्मिक आकाश में अन्य अनेक लोक हैं, जिन्हें वैकुण्ठ लोक कहते हैं, किन्तु निर्विशेषवादी तो ब्रह्मज्योति में ही रह जाते हैं।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥१४॥

अनन्य-चेताः—अविचलित मन से; **सततम्**—सदैव; **यः**—जो; **माम्**—मुझ (कृष्ण) को; **स्मरति**—स्मरण करता है; **नित्यशः**—नियमित रूप से; **तस्य**—उस; **अहम्**—मैं हूँ; **सु-लभः**—सुलभ, सरलता से प्राप्य; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **नित्य**—नियमित रूप से; **युक्तस्य**—लगे हुए; **योगिनः**—भक्त के लिए।

हे अर्जुन! जो अनन्य भाव से निरन्तर मेरा स्मरण करता है उसके लिए मैं सुलभ हूँ, क्योंकि वह मेरी भक्ति में प्रवृत्त रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में उन निष्काम भक्तों द्वारा प्राप्तव्य अन्तिम गन्तव्य का वर्णन है जो भक्तियोग के द्वारा भगवान् की सेवा करते हैं। पिछले श्लोकों में चार प्रकार के भक्तों का वर्णन हुआ है—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी। मुक्ति की विभिन्न विधियों का भी वर्णन हुआ है—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा हठयोग। इन योग पद्धतियों के नियमों में कुछ न कुछ भक्ति मिली रहती है, लेकिन इस श्लोक में शुद्ध भक्तियोग का वर्णन है, जिसमें ज्ञान, कर्म या हठ का मिश्रण नहीं होता। जैसा कि *अनन्यचेताः* शब्द से सूचित होता है, भक्तियोग में भक्त कृष्ण के अतिरिक्त और कोई इच्छा नहीं करता। शुद्धभक्त न तो स्वर्गलोक जाना चाहता है, न ब्रह्मज्योति से तादात्म्य या मोक्ष या भवबन्धन से मुक्ति ही चाहता है। शुद्धभक्त किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता। चैतन्यचरितामृत में शुद्धभक्त को निष्काम कहा गया है। उसे ही पूर्णशान्ति का लाभ होता है, उन्हें नहीं जो

स्वार्थ में लगे रहते हैं। एक ओर जहाँ ज्ञानयोगी, कर्मयोगी या हठयोगी का अपना-अपना स्वार्थ रहता है, वहीं पूर्णभक्त में भगवान् को प्रसन्न करने के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा नहीं होती। अतः भगवान् कहते हैं कि जो एकनिष्ठ भाव से उनकी भक्ति में लगा रहता है, उसे वे सरलता से प्राप्त होते हैं।

शुद्धभक्त सदैव कृष्ण के विभिन्न रूपों में से किसी एक की भक्ति में लगा रहता है। कृष्ण के अनेक स्वांश तथा अवतार हैं, यथा राम तथा नृसिंह जिनमें से भक्त किसी एक रूप को चुनकर उसकी प्रेमाभक्ति में मन को स्थिर कर सकता है। ऐसे भक्त को उन अनेक समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता, जो अन्य योग के अभ्यासकर्ताओं को झेलनी पड़ती हैं। भक्तियोग अत्यन्त सरल, शुद्ध तथा सुगम है। इसका शुभारम्भ *हरे कृष्ण* जप से किया जा सकता है। भगवान् सबों पर कृपालु हैं, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है जो अनन्य भाव से उनकी सेवा करते हैं वे उनके ऊपर विशेष कृपालु रहते हैं। भगवान् ऐसे भक्तों की सहायता अनेक प्रकार से करते हैं। जैसा कि वेदों में (*कठोपनिषद्* १.२-२३) कहा गया है—*यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्*—जिसने पूरी तरह से भगवान् की शरण ले ली है और जो उनकी भक्ति में लगा हुआ है वही भगवान् को यथारूप में समझ सकता है। तथा *गीता* में भी (१०.१०) कहा गया है—*ददामि बुद्धियोगं तम्*—ऐसे भक्त को भगवान् पर्याप्त बुद्धि प्रदान करते हैं, जिससे वह उन्हें भगवद्धाम में प्राप्त कर सके।

शुद्धभक्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह देश अथवा काल का विचार किये बिना अनन्य भाव से कृष्ण का ही चिन्तन करता रहता है। उसको किसी तरह का व्यवधान नहीं होना चाहिए। उसे कहीं भी और किसी भी समय अपना सेवा कार्य करते रहने में समर्थ होना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि भक्तों को वृन्दावन जैसे पवित्र स्थानों में, या किसी पवित्र नगर में, जहाँ भगवान् रह चुके हैं, रहना चाहिए, किन्तु शुद्धभक्त कहीं भी रहकर अपनी भक्ति से वृन्दावन जैसा वातावरण उत्पन्न कर सकता है। श्री अद्वैत ने चैतन्य महाप्रभु से कहा था, "आप जहाँ भी हैं, हे प्रभु! वहीं वृन्दावन है।"

जैसा कि *सततम्* तथा *नित्यशः* शब्दों से सूचित होता है, शुद्धभक्त निरन्तर कृष्ण का ही स्मरण करता है और उन्हीं का ध्यान करता है। ये शुद्धभक्त के गुण हैं, जिनके लिए भगवान् सहज सुलभ हैं। *गीता* समस्त योग पद्धतियों में से भक्तियोग की ही संस्तुति करती है। सामान्यतया भक्तियोगी पाँच प्रकार से भक्ति में लगे रहते हैं— (१) शान्त भक्त, जो उदासीन रहकर भक्ति में युक्त होते हैं, (२) दास्य भक्त, जो दास के रूप में भक्ति में युक्त होते हैं, (३) सख्य भक्त, जो सखा रूप में भक्ति में युक्त होते हैं, (४) वात्सल्य भक्त, जो माता-पिता की भाँति भक्ति में युक्त होते हैं तथा (५) माधुर्य भक्त, जो परमेश्वर के साथ दाम्पत्य प्रेमी की भाँति भक्ति में युक्त होते हैं। शुद्धभक्त इनमें से किसी में भी परमेश्वर की प्रेमाभक्ति में युक्त होता है और उन्हें कभी नहीं भूल पाता, जिससे भगवान् उसे सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार शुद्धभक्त क्षणभर के लिए भी भगवान् को नहीं भूलता, उसी प्रकार भगवान् भी अपने शुद्धभक्त को क्षणभर के लिए भी नहीं भूलते। *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस महामन्त्र के कीर्तन की कृष्णभावनाभावित विधि का यही सबसे बड़ा आशीर्वाद है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दु:खालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः॥ १५॥

माम्—मुझको; **उपेत्य**—प्राप्त करके; **पुन:**—फिर; **जन्म**—जन्म; **दु:ख-आलयम्**—दुखों के स्थान को; **अशाश्वतम्**—क्षणिक; **न**—कभी नहीं; **आप्नुवन्ति**—प्राप्त करते हैं; **महा-आत्मान:**—महान पुरुष; **संसिद्धिम्**—सिद्धि को; **परमाम्**—परम; **गता:**—प्राप्त हुए।

मुझे प्राप्त करके महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, कभी भी दुखों से पूर्ण इस अनित्य जगत् में नहीं लौटते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।

तात्पर्य : चूँकि यह नश्वर जगत् जन्म, जरा तथा मृत्यु के क्लेशों से पूर्ण है, अतः जो परम सिद्धि प्राप्त करता है और परमलोक कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन को प्राप्त होता है, वह वहाँ से कभी वापस नहीं आना चाहता। इस परमलोक को वेदों में *अव्यक्त, अक्षर* तथा *परमा गति* कहा गया है। दूसरे शब्दों में, यह लोक हमारी भौतिक दृष्टि से परे है और अवर्णनीय है, किन्तु यह चरमलक्ष्य है, जो महात्माओं का गन्तव्य है। महात्मा अनुभवसिद्ध भक्तों से दिव्य सन्देश प्राप्त करते हैं और इस प्रकार वे धीरे-धीरे कृष्णभावनामृत में भक्ति विकसित करते हैं और दिव्यसेवा में इतने लीन हो जाते हैं कि वे न तो किसी भौतिक लोक में जाना चाहते हैं, यहाँ तक कि न ही वे किसी आध्यात्मिक लोक में जाना चाहते हैं। वे केवल कृष्ण तथा कृष्ण का सामीप्य चाहते हैं, अन्य कुछ नहीं। यही जीवन की सबसे बड़ी सिद्धि है। इस श्लोक में भगवान् कृष्ण के सगुणवादी भक्तों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। ये भक्त कृष्णभावनामृत में जीवन की परमसिद्धि प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे सर्वोच्च आत्माएँ हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥ १६॥

आ-ब्रह्म-भुवनात्—ब्रह्मलोक तक; **लोका:**—सारे लोक; **पुन:**—फिर; **आवर्तिन:**—लौटने वाले; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **माम्**—मुझको; **उपेत्य**—पाकर; **तु**—लेकिन; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **पुन: जन्म**—पुनर्जन्म; **न**—कभी नहीं; **विद्यते**—होता है।

इस जगत् में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम सारे लोक दुखों के घर हैं, जहाँ जन्म तथा मरण का चक्कर लगा रहता है। किन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है, वह फिर कभी जन्म नहीं लेता।

तात्पर्य : समस्त योगियों को चाहे वे कर्मयोगी हों, ज्ञानयोगी या हठयोगी—अन्ततः भक्तियोग या कृष्णभावनामृत में भक्ति की सिद्धि प्राप्त करनी होती है, तभी वे कृष्ण के दिव्य धाम को जा सकते हैं, जहाँ से वे फिर कभी वापस नहीं आते। किन्तु जो सर्वोच्च भौतिक लोकों अर्थात् देवलोकों को प्राप्त होता है, उसका पुनर्जन्म होता रहता है। जिस प्रकार इस पृथ्वी के लोग उच्चलोकों को जाते हैं, उसी तरह ब्रह्मलोक, चन्द्रलोक तथा इन्द्रलोक जैसे उच्चतर लोकों से लोग पृथ्वी पर गिरते रहते हैं। *छान्दोग्य उपनिषद्* में जिस पंचाग्नि विद्या का विधान है, उससे मनुष्य ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकता है, किन्तु

यदि ब्रह्मलोक में वह कृष्णभावनामृत का अनुशीलन नहीं करता, तो उसे पृथ्वी पर फिर से लौटना पड़ता है। जो उच्चतर लोकों में कृष्णभावनामृत में प्रगति करते हैं, वे क्रमशः और ऊपर जाते रहते हैं और प्रलय के समय वे नित्य परमधाम को भेज दिये जाते हैं। श्रीधर स्वामी ने अपने *भगवद्गीता* भाष्य में यह श्लोक उद्धृत किया है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्॥

"जब इस भौतिक ब्रह्माण्ड का प्रलय होता है, तो ब्रह्मा तथा कृष्णभावनामृत में निरन्तर प्रवृत्त उनके भक्त अपनी इच्छानुसार आध्यात्मिक ब्रह्माण्ड को तथा विशिष्ट वैकुण्ठ लोकों को भेज दिये जाते हैं।"

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥१७॥

सहस्र—एक हजार; **युग**—युग; **पर्यन्तम्**—सहित; **अहः**—दिन; **यत्**—जो; **ब्रह्मणः**—ब्रह्मा का; **विदुः**—वे जानते हैं; **रात्रिम्**—रात्रि; **युग**—युग; **सहस्रान्ताम्**—इसी प्रकार एक हजार बाद समाप्त होने वाली; **ते**—वे; **अहः-रात्र**—दिन-रात; **विदः**—जानते हैं; **जनाः**—लोग।

मानवीय गणना के अनुसार एक हजार युग मिलकर ब्रह्मा का एक दिन बनता है और इतनी ही बड़ी ब्रह्मा की रात्रि भी होती है।

तात्पर्य : भौतिक ब्रह्माण्ड की अवधि सीमित है। यह कल्पों के चक्र रूप में प्रकट होती है। यह कल्प ब्रह्मा का एक दिन है जिसमें चतुर्युग—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि—के एक हजार चक्र होते हैं। सतयुग में सदाचार, ज्ञान तथा धर्म का बोलबाला रहता है और अज्ञान तथा पाप का एक तरह से नितान्त अभाव होता है। यह युग १७,२८,००० वर्षों तक चलता है। त्रेता युग में पापों का प्रारम्भ होता है और यह युग १२,९६,००० वर्षों तक चलता है। द्वापर युग में सदाचार तथा धर्म का ह्रास होता है और पाप बढ़ते हैं। यह युग ८,६४,००० वर्षों तक चलता है। सबसे अन्त में कलियुग (जिसे हम विगत ५ हजार वर्षों से भोग रहे हैं) आता है जिसमें कलह, अज्ञान, अधर्म तथा पाप का प्राधान्य रहता है और सदाचार का प्रायः लोप हो जाता है। यह युग ४,३२,००० वर्षों तक चलता है। इस युग में पाप यहाँ तक बढ़ जाते हैं कि इस युग के अन्त में भगवान् स्वयं कल्कि अवतार धारण करते हैं, असुरों का संहार करते हैं, भक्तों की रक्षा करते हैं और दूसरे सतयुग का शुभारम्भ होता है। इस तरह यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। ये चारों युग एक सहस्र चक्र कर लेने पर ब्रह्मा के एक दिन के तुल्य होते हैं। इतने ही वर्षों की उनकी एक रात्रि होती है। ब्रह्मा ऐसे एक सौ वर्ष जीवित रहते हैं और तब उनकी मृत्यु होती है। ब्रह्मा के ये १०० वर्ष गणना के अनुसार पृथ्वी के ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष के तुल्य हैं। इन गणनाओं से ब्रह्मा की आयु अत्यन्त विचित्र तथा न समाप्त होने वाली लगती है, किन्तु नित्यता की दृष्टि से यह बिजली की चमक जैसी अल्प है। कारणार्णव में असंख्य ब्रह्मा अटलांटिक सागर में पानी के बुलबुलों के समान प्रकट होते और लोप होते रहते हैं। ब्रह्मा तथा उनकी सृष्टि

भौतिक ब्रह्माण्ड के अंग हैं, फलस्वरूप निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं।

इस भौतिक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा भी जन्म, जरा, रोग तथा मरण की क्रिया से अछूते नहीं हैं। किन्तु चूँकि ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड की व्यवस्था करते हैं, इसीलिए वे भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा में लगे रहते हैं। फलस्वरूप उन्हें तुरन्त मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यहाँ तक कि सिद्ध संन्यासियों को भी ब्रह्मलोक भेजा जाता है, जो इस ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च लोक है। किन्तु कालक्रम से ब्रह्मा तथा ब्रह्मलोक के सारे वासी प्रकृति के नियमानुसार मरणशील होते हैं।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ १८॥

अव्यक्तात्—अव्यक्त से; **व्यक्तयः**—जीव; **सर्वाः**—सारे; **प्रभवन्ति**—प्रकट होते हैं; **अहः-आगमे**—दिन होने पर; **रात्रि-आगमे**—रात्रि आने पर; **प्रलीयन्ते**—विनष्ट हो जाते हैं; **तत्र**—उसमें; **एव**—निश्चय ही; **अव्यक्त**—अप्रकट; **संज्ञके**—नामक, कहे जाने वाले।

ब्रह्मा के दिन के शुभारम्भ में सारे जीव अव्यक्त अवस्था से व्यक्त होते हैं और फिर जब रात्रि आती है तो वे पुनः अव्यक्त में विलीन हो जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥ १९॥

भूत-ग्रामः—समस्त जीवों का समूह; **सः**—वही; **एव**—निश्चय ही; **अयम्**—यह; **भूत्वा भूत्वा**—बारम्बार जन्म लेकर; **प्रलीयते**—विनष्ट हो जाता है; **रात्रि**—रात्रि के; **आगमे**—आने पर; **अवशः**—स्वतः; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **प्रभवति**—प्रकट होता है; **अहः**—दिन; **आगमे**—आने पर।

जब-जब ब्रह्मा का दिन आता है तो सारे जीव प्रकट होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि होते ही वे असहायवत् विलीन हो जाते हैं।

तात्पर्य : अल्पज्ञानी पुरुष, जो इस भौतिक जगत् में बने रहना चाहते हैं, उच्चतर लोकों को प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उन्हें पुनः इस धरालोक पर आना होता है। वे ब्रह्मा का दिन होने पर इस जगत् के उच्चतर तथा निम्नतर लोकों में अपने कार्यों का प्रदर्शन करते हैं, किन्तु ब्रह्मा की रात्रि होते ही वे विनष्ट हो जाते हैं। दिन में उन्हें [illegible] के कार्यों के लिए नाना शरीर प्राप्त होते रहते हैं, किन्तु रात्रि के होते ही उनके शरीर विष्णु के शरीर में विलीन हो जाते हैं। वे पुनः ब्रह्मा का दिन आने पर प्रकट होते हैं। *भूत्वा-भूत्वा प्रलीयते*—दिन के समय वे प्रकट होते हैं और रात्रि के समय पुनः विनष्ट हो जाते हैं। अन्ततोगत्वा जब ब्रह्मा का जीवन समाप्त होता है, तो उन सबका संहार हो जाता है और वे करोड़ों वर्षों तक अप्रकट रहते हैं। अन्य कल्प में ब्रह्मा का पुनर्जन्म होने पर वे पुनः प्रकट होते हैं। इस प्रकार वे भौतिक जगत् के जादू से मोहित होते रहते हैं। किन्तु जो बुद्धिमान व्यक्ति कृष्णभावनामृत स्वीकार करते हैं, वे इस मनुष्य जीवन का उपयोग भगवान् की भक्ति करने में तथा *हरे कृष्ण* मन्त्र के कीर्तन में बिताते हैं। इस प्रकार वे इसी जीवन में कृष्णलोक को प्राप्त होते हैं और वहाँ पर पुनर्जन्म के चक्कर

से मुक्त होकर सतत आनन्द का अनुभव करते हैं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति॥२०॥

परः—परम; **तस्मात्**—उस; **तु**—लेकिन; **भावः**—प्रकृति; **अन्यः**—दूसरी; **अव्यक्तः**—अव्यक्त; **अव्यक्तात्**—अव्यक्त से; **सनातनः**—शाश्वत; **यः सः**—वह जो; **सर्वेषु**—समस्त; **भूतेषु**—जीवों के; **नश्यत्सु**—नाश होने पर; **न**—कभी नहीं; **विनश्यति**—विनष्ट होती है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य अव्यक्त प्रकृति है, जो शाश्वत है और इस व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थ से परे है। यह परा (श्रेष्ठ) और कभी नाश न होने वाली है। जब इस संसार का सब कुछ लय हो जाता है, तब भी उसका नाश नहीं होता।

तात्पर्य : कृष्ण की पराशक्ति दिव्य और शाश्वत है। यह उस भौतिक प्रकृति के समस्त परिवर्तनों से परे है, जो ब्रह्मा के दिन के समय व्यक्त और रात्रि के समय विनष्ट होती रहती है। कृष्ण की पराशक्ति भौतिक प्रकृति के गुण से सर्वथा विपरीत है। परा तथा अपरा प्रकृति की व्याख्या सातवें अध्याय में हुई है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥२१॥

अव्यक्तः—अप्रकट; **अक्षरः**—अविनाशी; **इति**—इस प्रकार; **उक्तः**—कहा गया; **तम्**—उसको; **आहुः**—कहा जाता है; **परमाम्**—परम; **गतिम्**—गन्तव्य; **यम्**—जिसको; **प्राप्य**—प्राप्त करके; **न**—कभी नहीं; **निवर्तन्ते**—वापस आते हैं; **तत्**—वह; **धाम**—निवास; **परमम्**—परम; **मम**—मेरा।

जिसे वेदान्ती अप्रकट तथा अविनाशी बताते हैं, जो परम गन्तव्य है, जिसे प्राप्त कर लेने पर कोई वापस नहीं आता, वही मेरा परमधाम है।

तात्पर्य : *ब्रह्मसंहिता* में भगवान् कृष्ण के परमधाम को *चिन्तामणि धाम* कहा गया है, जो ऐसा स्थान है जहाँ सारी इच्छाएँ पूरी होती हैं। भगवान् कृष्ण का परमधाम गोलोक वृन्दावन कहलाता है और वह पारसमणि से निर्मित प्रासादों से युक्त है। वहाँ पर वृक्ष भी हैं, जिन्हें कल्पतरु कहा जाता है, जो इच्छा होने पर किसी भी तरह का खाद्य पदार्थ प्रदान करने वाले हैं। वहाँ गौएँ भी हैं, जिन्हें सुरभि गौएँ कहा जाता है और वे अनन्त दुग्ध देने वाली हैं। इस धाम में भगवान् की सेवा के लिए लाखों लक्ष्मियाँ हैं। वे आदि भगवान् गोविन्द तथा समस्त कारणों के कारण कहलाते हैं। भगवान् वंशी बजाते रहते हैं (*वेणुं क्वणन्तम्*)। उनका दिव्य स्वरूप समस्त लोकों में सर्वाधिक आकर्षक है, उनके नेत्र कमलदलों के समान हैं और उनका शरीर मेघों के वर्ण का है। वे इतने रूपवान हैं कि उनका सौन्दर्य हजारों कामदेवों को मात करता है। वे पीत वस्त्र धारण करते हैं, उनके गले में माला रहती है और केशों में मोरपंख लगे रहते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण अपने निजी धाम, गोलोक वृन्दावन का संकेत मात्र करते हैं, जो आध्यात्मिक जगत् में सर्वश्रेष्ठ लोक है। इसका विशद वृत्तान्त *ब्रह्मसंहिता* में मिलता है। वैदिक ग्रंथ

(*कठोपनिषद्* १.३.११) बताते हैं कि भगवान् का धाम सर्वश्रेष्ठ है और यही परमधाम है *(पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा परमा गतिः)*। एक बार वहाँ पहुँच कर फिर से भौतिक संसार में वापस नहीं आना होता। कृष्ण का परमधाम तथा स्वयं कृष्ण अभिन्न हैं, क्योंकि वे दोनों एक से गुण वाले हैं। आध्यात्मिक आकाश में स्थित इस गोलोक वृन्दावन की प्रतिकृति (वृन्दावन) इस पृथ्वी पर दिल्ली से ९० मील दक्षिण-पूर्व स्थित है। जब कृष्ण ने इस पृथ्वी पर अवतार ग्रहण किया था, तो उन्होंने इसी भूमि पर, जिसे वृन्दावन कहते हैं और जो भारत में मथुरा जिले के चौरासी वर्गमील में फैला हुआ है, क्रीड़ा की थी।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥

पुरुषः—परमपुरुष; **सः**—वह; **परः**—परम, जिनसे बढ़कर कोई नहीं है; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **भक्त्या**—भक्ति के द्वारा; **लभ्यः**—प्राप्त किया जा सकता है; **तु**—लेकिन; **अनन्यया**—अनन्य, अविचल; **यस्य**—जिसके; **अन्तः-स्थानि**—भीतर; **भूतानि**—यह सारा जगत; **येन**—जिनके द्वारा; **सर्वम्**—समस्त; **इदम्**—जो कुछ हम देख सकते हैं; **ततम्**—व्याप्त है।

भगवान्, जो सबसे महान हैं, अनन्य भक्ति द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं। यद्यपि वे अपने धाम में विराजमान रहते हैं, तो भी वे सर्वव्यापी हैं और उनमें सब कुछ स्थित है।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि जिस परमधाम से फिर लौटना नहीं होता, वह परमपुरुष कृष्ण का धाम है। *ब्रह्मसंहिता* में इस परमधाम को आनन्दचिन्मय रस कहा गया है जो ऐसा स्थान है जहाँ सभी वस्तुएँ परम आनन्द से पूर्ण हैं। जितनी भी विविधता प्रकट होती है वह सब इसी परमानन्द का गुण है—वहाँ कुछ भी भौतिक नहीं है। यह विविधता भगवान् के विस्तार के साथ ही विस्तृत होती जाती है, क्योंकि वहाँ की सारी अभिव्यक्ति पराशक्ति के कारण है, जैसा कि सातवें अध्याय में बताया गया है। जहाँ तक इस भौतिक जगत् का प्रश्न है, यद्यपि भगवान् अपने धाम में ही सदैव रहते हैं, तो भी वे अपनी भौतिक शक्ति (माया) द्वारा सर्वव्याप्त हैं। इस प्रकार वे अपनी परा तथा अपरा शक्तियों द्वारा सर्वत्र—भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ब्रह्माण्डों में—उपस्थित रहते हैं। *यस्यान्तःस्थानि* का अर्थ है कि प्रत्येक वस्तु उनमें या उनकी परा या अपरा शक्ति में निहित है। इन्हीं दोनों शक्तियों के द्वारा भगवान् सर्वव्यापी हैं।

कृष्ण के परमधाम में या असंख्य वैकुण्ठ लोकों में भक्ति के द्वारा ही प्रवेश सम्भव है, जैसा कि *भक्त्या* शब्द द्वारा सूचित होता है। किसी अन्य विधि से परमधाम की प्राप्ति सम्भव नहीं है। वेदों में (*गोपाल-तापनी उपनिषद्* ३.२) भी परमधाम तथा भगवान् का वर्णन मिलता है। *एको वशी सर्वगः कृष्णः*। उस धाम में केवल एक भगवान् रहता है, जिसका नाम कृष्ण है। वह अत्यन्त दयालु विग्रह है और एक रूप में स्थित होकर भी वह अपने को लाखों स्वांशों में विस्तृत करता रहता है। वेदों में भगवान् की उपमा उस शान्त वृक्ष से दी गई है, जिसमें नाना प्रकार के फूल तथा फल लगे हैं और जिसकी पत्तियाँ निरन्तर बदलती रहती हैं। वैकुण्ठ लोक की अध्यक्षता करने वाले भगवान् के

स्वांश चतुर्भुजी हैं और विभिन्न नामों से विख्यात है—पुरुषोत्तम, त्रिविक्रम, केशव, माधव, अनिरुद्ध, हृषीकेश, संकर्षण, प्रद्युम्न, श्रीधर, वासुदेव, दामोदर, जनार्दन, नारायण, वामन, पद्मनाभ आदि।

ब्रह्मसंहिता में (५.३७) भी पुष्टि हुई है कि यद्यपि भगवान् निरन्तर परमधाम गोलोक वृन्दावन में रहते हैं, किन्तु वे सर्वव्यापी हैं ताकि सब कुछ सुचारु रूप से चलता रहे (*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः*)। वेदों में (*श्वेताश्वतर उपनिषद्* ६.८) कहा गया है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च*—उनकी शक्तियाँ इतनी व्यापक हैं कि वे परमेश्वर के दूरस्थ होते हुए भी दृश्यजगत में बिना किसी त्रुटि के सब कुछ सुचारु रूप से संचालित करती रहती हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

यत्र—जिस; **काले**—समय में; **तु**—तथा; **अनावृत्तिम्**—वापस न आना; **आवृत्तिम्**—वापसी; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **योगिनः**—विभिन्न प्रकार के योगी; **प्रयाताः**—प्रयाण करने वाले; **यान्ति**—प्राप्त करते हैं; **तम्**—उस; **कालम्**—काल को; **वक्ष्यामि**—कहूँगा; **भरत-ऋषभ**—हे भरतों में श्रेष्ठ!

हे भरतश्रेष्ठ! अब मैं तुम्हें उन विभिन्न कालों को बताऊँगा, जिनमें इस संसार से प्रयाण करने के बाद योगी पुनः आता है अथवा नहीं आता।

तात्पर्य : परमेश्वर के अनन्य, पूर्ण शरणागत भक्तों को इसकी चिन्ता नहीं रहती कि वे कब और किस तरह शरीर को त्यागेंगे। वे सब कुछ कृष्ण पर छोड़ देते हैं और इस तरह सरलतापूर्वक, प्रसन्नता सहित भगवद्धाम जाते हैं। किन्तु जो अनन्य भक्त नहीं हैं और कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा हठयोग जैसी आत्म-साक्षात्कार की विधियों पर आश्रित रहते हैं, उन्हें उपयुक्त समय में शरीर त्यागना होता है, जिससे वे आश्वस्त हो सकें कि इस जन्म-मृत्यु वाले संसार में उनको लौटना होगा या नहीं।

यदि योगी सिद्ध होता है तो वह इस जगत् से शरीर छोड़ने का समय तथा स्थान चुन सकता है। किन्तु यदि वह इतना पटु नहीं होता तो उसकी सफलता उसके अचानक शरीर त्याग के संयोग पर निर्भर करती है। भगवान् ने अगले श्लोक में ऐसे उचित अवसरों का वर्णन किया है कि कब मरने से कोई वापस नहीं आता। आचार्य बलदेव विद्याभूषण के अनुसार यहाँ पर संस्कृत के *काल* शब्द का प्रयोग काल के अधिष्ठाता देव के लिए हुआ है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥ २४॥

अग्निः—अग्नि; **ज्योतिः**—प्रकाश; **अहः**—दिन; **शुक्लः**—शुक्लपक्ष; **षट्-मासाः**—छह महीने; **उत्तर-अयणम्**—जब सूर्य उत्तर दिशा की ओर रहता है; **तत्र**—वहाँ; **प्रयाताः**—मरने वाले; **गच्छन्ति**—जाते हैं; **ब्रह्म**—ब्रह्म को; **ब्रह्म-विदः**—ब्रह्मज्ञानी; **जनाः**—लोग।

जो परब्रह्म के ज्ञाता हैं, वे अग्निदेव के प्रभाव में, प्रकाश में, दिन के शुभक्षण में, शुक्लपक्ष में या जब सूर्य उत्तरायण में रहता है, उन छह मासों में इस संसार से शरीर त्याग करने पर उस परब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : जब अग्नि, प्रकाश, दिन तथा पक्ष का उल्लेख रहता है तो यह समझना चाहिए कि इस सबों के अधिष्ठाता देव होते हैं जो आत्मा की यात्रा की व्यवस्था करते हैं। मृत्यु के समय मन मनुष्य को नवीन जीवन मार्ग पर ले जाता है। यदि कोई अकस्मात् या योजनापूर्वक उपर्युक्त समय पर शरीर त्याग करता है तो उसके लिए निर्विशेष ब्रह्मज्योति प्राप्त कर पाना सम्भव होता है। योग में सिद्ध योगी अपने शरीर को त्यागने के समय तथा स्थान की व्यवस्था कर सकते हैं। अन्यों का इस पर कोई वश नहीं होता। यदि संयोगवश वे शुभमुहूर्त में शरीर त्यागते हैं, तब तो उनको जन्म-मृत्यु के चक्र में लौटना नहीं पड़ता, अन्यथा उनके पुनरावर्तन की सम्भावना बनी रहती है। किन्तु कृष्णभावनामृत में शुद्धभक्त के लिए लौटने का कोई भय नहीं रहता, चाहे वह शुभ मुहूर्त में शरीर त्याग करे या अशुभ क्षण में, चाहे अकस्मात् शरीर त्याग करे या स्वेच्छापूर्वक।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते॥ २५॥

धूमः—धुआँ; **रात्रिः**—रात; **तथा**—और; **कृष्णः**—कृष्णपक्ष; **षट्-मासाः**—छह मास की अवधि; **दक्षिण-अयणम्**—जब सूर्य दक्षिण दिशा में रहता है; **तत्र**—वहाँ; **चान्द्र-मसम्**—चन्द्रलोक को; **ज्योतिः**—प्रकाश; **योगी**—योगी; **प्राप्य**—प्राप्त करके; **निवर्तते**—वापस आता है।

जो योगी धुएँ, रात्रि, कृष्णपक्ष में या सूर्य के दक्षिणायन रहने के छह महीनों में दिवंगत होता है, वह चन्द्रलोक को जाता है, किन्तु वहाँ से पुनः (पृथ्वी पर) चला आता है।

तात्पर्य : भागवत के तृतीय स्कंध में कपिल मुनि उल्लेख करते हैं कि जो लोग कर्मकाण्ड तथा यज्ञकाण्ड में निपुण हैं, वे मृत्यु होने पर चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं। ये महान आत्माएँ चन्द्रमा पर लगभग १० हजार वर्षों तक (देवों की गणना से) रहती हैं और सोमरस का पान करते हुए जीवन का आनन्द भोगती हैं। अन्ततोगत्वा वे पृथ्वी पर लौट आती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि चन्द्रमा में उच्चश्रेणी के प्राणी रहते हैं, भले ही हम अपनी स्थूल इन्द्रियों से उन्हें देख न सकें।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः॥ २६॥

शुक्ल—प्रकाश; **कृष्णे**—तथा अंधकार; **गती**—जाने के मार्ग; **हि**—निश्चय ही; **एते**—ये दोनों; **जगतः**—भौतिक जगत् का; **शाश्वते**—वेदों के; **मते**—मत से; **एकया**—एक के द्वारा; **याति**—जाता है; **अनावृत्तिम्**—न लौटने के लिए; **अन्यया**—अन्य के द्वारा; **आवर्तते**—आ जाता है; **पुनः**—फिर से।

वैदिक मतानुसार इस संसार से प्रयाण करने के दो मार्ग हैं—एक प्रकाश का तथा दूसरा अंधकार का। जब मनुष्य प्रकाश के मार्ग से जाता है तो वह वापस नहीं आता, किन्तु अंधकार के मार्ग से जाने वाला पुनः लौटकर आता है।

तात्पर्य : आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने *छान्दोग्य* उपनिषद् से (५.१०.३-५) ऐसा ही विवरण उद्धृत किया है। जो अनादि काल से सकाम कर्मी तथा दार्शनिक चिन्तक रहे हैं वे निरन्तर आवागमन करते रहे हैं। वस्तुतः उन्हें परममोक्ष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वे कृष्ण की शरण में नहीं जाते।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन॥ २७॥

न—कभी नहीं; **एते**—इन दोनों; **सृती**—विभिन्न मार्गों को; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **जानन्**—जानते हुए भी; **योगी**—भगवद्भक्त; **मुह्यति**—मोहग्रस्त होता है; **कश्चन**—कोई; **तस्मात्**—अतः; **सर्वेषु कालेषु**—सदैव; **योग-युक्तः**—कृष्णभावनामृत में तत्पर; **भव**—होवो; **अर्जुन**—हे अर्जुन।

हे अर्जुन! यद्यपि भक्तगण इन दोनों मार्गों को जानते हैं, किन्तु वे मोहग्रस्त नहीं होते। अतः तुम भक्ति में सदैव स्थिर रहो।

तात्पर्य : कृष्ण अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं कि उसे इस जगत् से आत्मा के प्रयाण करने के विभिन्न मार्गों को सुनकर विचलित नहीं होना चाहिए। भगवद्भक्त को इसकी चिन्ता नहीं होनी चाहिए कि वह स्वेच्छा से मरेगा या दैववशात्। भक्त को कृष्णभावनामृत में दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर *हरे कृष्ण* का जप करना चाहिए। उसे यह जान लेना चाहिए कि इन दोनों मार्गों में से किसी की भी चिन्ता करना कष्टदायक है। कृष्णभावनामृत में तल्लीन होने की सर्वोत्तम विधि यही है कि भगवान् की सेवा में सदैव रत रहा जाय। इससे भगवद्धाम का मार्ग स्वतः सुगम, सुनिश्चित तथा सीधा होगा। इस श्लोक का *योगयुक्त* शब्द विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। जो योग में स्थिर है, वह अपनी सभी गतिविधियों में निरन्तर कृष्णभावनामृत में रत रहता है। श्री रूप गोस्वामी का उपदेश है—*अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः*—मनुष्य को सांसारिक कार्यों से अनासक्त रहकर कृष्णभावनामृत में सब कुछ करना चाहिए। इस विधि से, जिसे *युक्तवैराग्य* कहते हैं, मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। अतएव भक्त कभी इन वर्णनों से विचलित नहीं होता, क्योंकि वह जानता रहता है कि भक्ति के कारण भगवद्धाम तक का उसका प्रयाण सुनिश्चित है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्॥ २८॥

वेदेषु—वेदाध्ययन में; **यज्ञेषु**—यज्ञ सम्पन्न करने में; **तपःसु**—विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ करने में; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **दानेषु**—दान देने में; **यत्**—जो; **पुण्य-फलम्**—पुण्यकर्म का फल; **प्रदिष्टम्**—सूचित; **अत्येति**—लाँघ जाता है; **तत् सर्वम्**—वे सब; **इदम्**—यह; **विदित्वा**—जानकर; **योगी**—योगी; **परम्**—परम; **स्थानम्**—धाम को; **उपैति**—प्राप्त करता है; **च**—भी; **आद्यम्**—मूल, आदि।

जो व्यक्ति भक्तिमार्ग स्वीकार करता है, वह वेदाध्ययन, तपस्या, दान, दार्शनिक तथा सकाम कर्म करने से प्राप्त होने वाले फलों से वंचित नहीं होता। वह मात्र भक्ति सम्पन्न करके इन समस्त फलों की प्राप्ति करता है और अन्त में परम नित्यधाम को प्राप्त होता है।

तात्पर्य : यह श्लोक सातवें तथा आठवें अध्यायों का उपसंहार है, जिनमें कृष्णभावनामृत तथा भक्ति का विशेष वर्णन है। मनुष्य को अपने गुरु के निर्देशन में वेदाध्ययन करना होता है, उन्हीं के आश्रम में रहते हुए तपस्या करनी होती है। ब्रह्मचारी को गुरु के घर में एक दास की भाँति रहना पड़ता है और द्वार-द्वार भिक्षा माँगकर गुरु के पास लाना होता है। उसे गुरु के आदेश पर ही भोजन करना होता है और यदि किसी दिन गुरु शिष्य को भोजन करने के लिए बुलाना भूल जाय तो शिष्य को उपवास करना होता है। ब्रह्मचर्य पालन के ये कुछ वैदिक नियम हैं।

अपने गुरु के आश्रम में जब छात्र पाँच से बीस वर्ष तक वेदों का अध्ययन कर लेता है तो वह परम चरित्रवान बन जाता है। वेदों का अध्ययन मनोधर्मियों के मनोरंजन के लिए नहीं, अपितु चरित्र-निर्माण के लिए है। इस प्रशिक्षण के बाद ब्रह्मचारी को गृहस्थ जीवन में प्रवेश करके विवाह करने की अनुमति दी जाती है। गृहस्थ के रूप में उसे अनेक यज्ञ करने होते हैं, जिससे वह आगे उन्नति कर सके। उसे देश, काल तथा पात्र के अनुसार तथा सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक दान में अन्तर करते हुए दान देना होता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में वर्णित है। गृहस्थ जीवन के बाद वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना पड़ता है, जिसमें उसे जंगल में रहते हुए वृक्ष की छाल पहन कर तथा क्षौर कर्म आदि किये बिना कठिन तपस्या करनी होती है। इस प्रकार मनुष्य ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा अन्त में संन्यास आश्रम का पालन करते हुए जीवन की सिद्धावस्था को प्राप्त होता है। तब इनमें से कुछ स्वर्गलोक को जाते हैं और यदि वे और अधिक उन्नति करते हैं तो अधिक उच्चलोकों को या तो निर्विशेष ब्रह्मज्योति को, या वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक को जाते हैं। वैदिक ग्रंथों में इसी मार्ग की रूपरेखा प्राप्त होती है।

किन्तु कृष्णभावनामृत की विशेषता यह है कि मनुष्य एक ही झटके में भक्ति करने के कारण मनुष्य जीवन के विभिन्न आश्रमों के अनुष्ठानों को पार कर जाता है।

इदं *विदित्वा* शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को *भगवद्गीता* के इस अध्याय में तथा सातवें अध्याय में दिये हुए कृष्ण के उपदेशों को समझना चाहिए। उसे विद्वत्ता या मनोधर्म से इन दोनों अध्यायों को समझने का प्रयास नहीं करना चाहिए, अपितु भक्तों की संगति से श्रवण करके समझना चाहिए। सातवें से लेकर बारहवें तक के अध्याय *भगवद्गीता* के सार रूप हैं। प्रथम छह अध्याय तथा अन्तिम छह अध्याय इन मध्यवर्ती छहों अध्यायों के लिए आवरण मात्र हैं जिनकी सुरक्षा भगवान् करते हैं। यदि कोई *गीता* के इन छह अध्यायों को भक्त की संगति में भलीभाँति समझ लेता है तो उसका जीवन समस्त तपस्याओं, यज्ञों, दानों, चिन्तनों को पार करके महिमा-मण्डित हो उठेगा, क्योंकि केवल कृष्णभावनामृत के द्वारा उसे इतने कर्मों का फल प्राप्त हो जाता है।

जिसे *भगवद्गीता* में तनिक भी श्रद्धा नहीं है, उसे किसी भक्त से *भगवद्गीता* समझनी

चाहिए, क्योंकि चौथे अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि केवल भक्तगण ही *गीता* को समझ सकते हैं, अन्य कोई भी *भगवद्गीता* के अभिप्राय को नहीं समझ सकता। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह किसी भक्त से *भगवद्गीता* पढ़े; मनोधर्मियों से नहीं। यह श्रद्धा का सूचक है। जब भक्त की खोज की जाती है और अन्ततः भक्त की संगति प्राप्त हो जाती है, उसी क्षण से *भगवद्गीता* का वास्तविक अध्ययन तथा उसका ज्ञान प्रारम्भ हो जाता है। भक्त की संगति से भक्ति आती है और भक्ति के कारण कृष्ण या ईश्वर तथा कृष्ण के कार्यकलापों, उनके रूप, नाम, लीलाओं आदि से संबंधित सारे भ्रम दूर हो जाते हैं। इस प्रकार भ्रमों के दूर हो जाने पर वह अपने अध्ययन में स्थिर हो जाता है। तब उसे *भगवद्गीता* के अध्ययन में रस आने लगता है और कृष्णभावनाभावित होने की अनुभूति होने लगती है। आगे बढ़ने पर वह कृष्ण के प्रेम में पूर्णतया अनुरक्त हो जाता है। यह जीवन की सर्वोच्च सिद्ध अवस्था है, जिससे भक्त कृष्ण के धाम गोलोक वृन्दावन को प्राप्त होता है, जहाँ वह नित्य सुखी रहता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के आठवें अध्याय "भगवत्प्राप्ति" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय नौ

परम गुह्य ज्ञान

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥ १॥

श्रीभगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **इदम्**—इस; **तु**—लेकिन; **ते**—तुम्हारे लिए; **गुह्य-तमम्**—अत्यन्त गुह्य; **प्रवक्ष्यामि**—कह रहा हूँ; **अनसूयवे**—ईर्ष्या न करने वाले को; **ज्ञानम्**—ज्ञान को; **विज्ञान**—अनुभूत ज्ञान; **सहितम्**—सहित; **यत्**—जिसे; **ज्ञात्वा**—जानकर; **मोक्ष्यसे**—मुक्त हो सकोगे; **अशुभात्**—इस कष्टमय संसार से।

श्रीभगवान् ने कहा—हे अर्जुन! चूँकि तुम मुझसे कभी ईर्ष्या नहीं करते, इसलिए मैं तुम्हें यह परम गुह्यज्ञान तथा अनुभूति बतलाऊँगा, जिसे जानकर तुम संसार के सारे क्लेशों से मुक्त हो जाओगे।

तात्पर्य : ज्यों-ज्यों भक्त भगवान् के विषयों में अधिकाधिक सुनता है, त्यों-त्यों वह आत्मप्रकाशित होता जाता है। यह श्रवण विधि *श्रीमद्भागवत* में इस प्रकार अनुमोदित

है— "भगवान् के संदेश शक्तियों से पूरित होते हैं जिनकी अनुभूति तभी होती है, जब भक्त जन भगवान् सम्बन्धी कथाओं की परस्पर चर्चा करते हैं। इसे मनोधर्मियों या विद्यालयीन विद्वानों के सान्निध्य से नहीं प्राप्त किया जा सकता, क्योंकि यह अनुभूत ज्ञान (विज्ञान) है।"

भक्तगण परमेश्वर की सेवा में निरन्तर लगे रहते हैं। भगवान् उस जीव विशेष की मानसिकता तथा निष्ठा से अवगत रहते हैं, जो कृष्णभावनाभावित होता है और उसे ही वे भक्तों के सान्निध्य में कृष्णविद्या को समझने की बुद्धि प्रदान करते हैं। कृष्ण की चर्चा अत्यन्त शक्तिशाली है और यदि सौभाग्यवश किसी को ऐसी संगति प्राप्त हो जाये और वह इस ज्ञान को आत्मसात् करे तो वह आत्म-साक्षात्कार की दिशा में अवश्य प्रगति करेगा। कृष्ण अर्जुन को अपनी अलौकिक सेवा में उच्च से उच्चतर स्तर तक उत्साहित करने के उद्देश्य से इस नवें अध्याय में उसे परम गुह्य बातें बताते हैं जिन्हें इसके पूर्व उन्होंने अन्य किसी से प्रकट नहीं किया था।

भगवद्गीता का प्रथम अध्याय शेष ग्रंथ की भूमिका जैसा है, द्वितीय तथा तृतीय अध्याय में जिस आध्यात्मिक ज्ञान का वर्णन हुआ है वह गुह्य कहा गया है, सातवें तथा आठवें अध्याय में जिन विषयों की विवेचना हुई है वे भक्ति से सम्बन्धित हैं और कृष्णभावनामृत पर प्रकाश डालने के कारण गुह्यतर कहे गये हैं। किन्तु नवें अध्याय में तो अनन्य शुद्ध भक्ति का ही वर्णन हुआ है। फलस्वरूप यह परमगुह्य कहा गया है। जिसे कृष्ण का यह परमगुह्य ज्ञान प्राप्त है, वह दिव्य पुरुष है, अतः इस संसार में रहते हुए भी उसे भौतिक क्लेश नहीं सताते। *भक्तिरसामृत सिन्धु* में कहा गया है कि जिसमें भगवान् की प्रेमाभक्ति करने की उत्कृष्ट इच्छा होती है, वह भले ही इस जगत् में बद्ध अवस्था में रहता हो, किन्तु उसे मुक्त मानना चाहिए। इसी प्रकार *भगवद्गीता* के दसवें अध्याय में हम देखेंगे कि जो भी इस प्रकार लगा रहता है, वह मुक्त पुरुष है।

इस प्रथम श्लोक का विशिष्ट महत्त्व है। *इदं ज्ञानम्* (यह ज्ञान) शब्द शुद्धभक्ति के द्योतक हैं, जो नौ प्रकार की होती है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्म-समर्पण। भक्ति के इन नौ तत्त्वों का अभ्यास करने से मनुष्य आध्यात्मिक चेतना अथवा कृष्णभावनामृत तक उठ पाता है। इस प्रकार, जब मनुष्य का हृदय भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाता है तो वह कृष्णविद्या को समझ सकता है। केवल यह जान लेना कि जीव भौतिक नहीं है, पर्याप्त नहीं होता। यह तो आत्मानुभूति का शुभारम्भ हो सकता है, किन्तु उस मनुष्य को शरीर के कार्यों तथा उस भक्त के आध्यात्मिक कार्यों के अन्तर को समझना होगा, जो यह जानता है कि वह शरीर नहीं है।

सातवें अध्याय में भगवान् की ऐश्वर्यमयी शक्ति, उनकी विभिन्न शक्तियों—परा तथा अपरा—तथा इस भौतिक जगत् का वर्णन किया जा चुका है। अब नवें अध्याय में भगवान् की महिमा का वर्णन किया जायेगा।

इस श्लोक का *अनसूयवे* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सामान्यतया बड़े से बड़े विद्वान् भाष्यकार भी भगवान् कृष्ण से ईर्ष्या करते हैं। यहाँ तक कि बहुश्रुत विद्वान् भी *भगवद्गीता* के विषय में अशुद्ध व्याख्या करते हैं। चूँकि वे कृष्ण के प्रति ईर्ष्या रखते

हैं, अतः उनकी टीकाएँ व्यर्थ होती हैं। केवल कृष्णभक्तों द्वारा की गई टीकाएँ ही प्रामाणिक हैं। कोई भी ऐसा व्यक्ति, जो कृष्ण के प्रति ईर्ष्यालु है, न तो *भगवद्गीता* की व्याख्या कर सकता है, न पूर्णज्ञान प्रदान कर सकता है। जो व्यक्ति कृष्ण को जाने बिना उनके चरित्र की आलोचना करता है, वह मूर्ख है। अतः ऐसी टीकाओं से सावधान रहना चाहिए। जो व्यक्ति यह समझते हैं कि कृष्ण भगवान् हैं और शुद्ध तथा दिव्य पुरुष हैं, उनके लिए ये अध्याय लाभप्रद होंगे।

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ २॥

राज-विद्या–विद्याओं का राजा; **राज-गुह्यम्**–गोपनीय ज्ञान का राजा; **पवित्रम्**–शुद्धतम; **इदम्**–यह; **उत्तमम्**–दिव्य; **प्रत्यक्ष**–प्रत्यक्ष अनुभव से; **अवगमम्**–समझा गया; **धर्म्यम्**–धर्म; **सु-सुखम्**–अत्यन्त सुखी; **कर्तुम्**–सम्पन्न करने में; **अव्ययम्**–अविनाशी।

यह ज्ञान सब विद्याओं का राजा है, जो समस्त रहस्यों में सर्वाधिक गोपनीय है। यह परम शुद्ध है और चूँकि यह आत्मा की प्रत्यक्ष अनुभूति कराने वाला है, अतः यह धर्म का सिद्धान्त है। यह अविनाशी है और अत्यन्त सुखपूर्वक सम्पन्न किया जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* का यह अध्याय विद्याओं का राजा (राजविद्या) कहलाता है, क्योंकि यह पूर्ववर्ती व्याख्यायित समस्त सिद्धान्तों एवं दर्शनों का सार है। भारत के प्रमुख दार्शनिक गौतम, कणाद, कपिल, याज्ञवल्क्य, शाण्डिल्य तथा वैश्वानर हैं। सबसे अन्त में व्यासदेव आते हैं, जो *वेदान्तसूत्र* के लेखक हैं। अतः दर्शन या दिव्यज्ञान के क्षेत्र में किसी प्रकार का अभाव नहीं है। अब भगवान् कहते हैं कि यह नवम अध्याय ऐसे समस्त ज्ञान का राजा है, यह वेदाध्ययन से प्राप्त ज्ञान एवं विभिन्न दर्शनों का सार है। यह गुह्यतम है, क्योंकि गुह्य या दिव्यज्ञान में आत्मा तथा शरीर के अन्तर को जाना जाता है। समस्त गुह्यज्ञान के इस राजा (राजविद्या) की पराकाष्ठा है, भक्तियोग।

सामान्यतया लोगों को इस गुह्यज्ञान की शिक्षा नहीं मिलती। उन्हें बाह्य शिक्षा दी जाती है। जहाँ तक सामान्य शिक्षा का सम्बन्ध है उसमें राजनीति, समाजशास्त्र, भौतिकी, रसायनशास्त्र, गणित, ज्योतिर्विज्ञान, इंजीनियरी आदि में मनुष्य व्यस्त रहते हैं। विश्वभर में ज्ञान के अनेक विभाग हैं और अनेक बड़े-बड़े विश्वविद्यालय हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश कोई ऐसा विश्वविद्यालय या शैक्षिक संस्थान नहीं है, जहाँ आत्म-विद्या की शिक्षा दी जाती हो। फिर भी आत्मा शरीर का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है, आत्मा के बिना शरीर महत्त्वहीन है। तो भी लोग आत्मा की चिन्ता न करके जीवन की शारीरिक आवश्यकताओं को अधिक महत्त्व प्रदान करते हैं।

भगवद्गीता में द्वितीय अध्याय से ही आत्मा की महत्ता पर बल दिया गया है। प्रारम्भ में ही भगवान् कहते हैं कि यह शरीर नश्वर है और आत्मा अविनश्वर। (*अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः*)। यही ज्ञान का गुह्य अंश है—केवल यह जान लेना कि यह आत्मा शरीर से भिन्न है, यह निर्विकार, अविनाशी और नित्य है। इससे आत्मा के

विषय में कोई सकारात्मक सूचना प्राप्त नहीं हो पाती। कभी-कभी लोगों को यह भ्रम रहता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है और जब शरीर नहीं रहता या मनुष्य को शरीर से मुक्ति मिल जाती है तो आत्मा शून्य में रहता है और निराकार बन जाता है। किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। जो आत्मा शरीर के भीतर इतना सक्रिय रहता है वह शरीर से मुक्त होने के बाद इतना निष्क्रिय कैसे हो सकता है? यह सदैव सक्रिय रहता है। यदि यह शाश्वत है, तो यह शाश्वत सक्रिय रहता है और वैकुण्ठलोक में इसके कार्यकलाप अध्यात्मज्ञान के गुह्यतम अंश हैं। अतः आत्मा के कार्यों को यहाँ पर समस्त ज्ञान का राजा, समस्त ज्ञान का गुह्यतम अंश कहा गया है।

यह ज्ञान समस्त कार्यों का शुद्धतम रूप है, जैसा कि वैदिक साहित्य में बताया गया है। *पद्मपुराण* में मनुष्य के पापकर्मों का विश्लेषण किया गया है और दिखाया गया है कि ये पापों के फल हैं। जो लोग सकामकर्मों में लगे हुए हैं वे पापपूर्ण कर्मों के विभिन्न रूपों एवं अवस्थाओं में फँसे रहते हैं। उदाहरणार्थ, जब बीज बोया जाता है तो तुरन्त वृक्ष नहीं तैयार हो जाता, इसमें कुछ समय लगता है। पहले एक छोटा सा अंकुर रहता है, फिर यह वृक्ष का रूप धारण करता है, तब इसमें फूल आते हैं, फल लगते हैं और तब बीज बोने वाले व्यक्ति फूल तथा फल का उपभोग कर सकते हैं। इसी प्रकार जब कोई मनुष्य पापकर्म करता है, तो बीज की ही भाँति इसके भी फल मिलने में समय लगता है। इसमें भी कई अवस्थाएँ होती हैं। भले ही व्यक्ति में पापकर्मों का उदय होना बन्द हो चुका हो, किन्तु किये गये पापकर्म का फल तब भी मिलता रहता है। कुछ पाप तब भी बीज रूप में बचे रहते हैं, कुछ फलीभूत हो चुके होते हैं, जिन्हें हम दुख तथा वेदना के रूप में अनुभव करते हैं।

जैसा कि सातवें अध्याय के अट्ठाईसवें श्लोक में बताया गया है जो व्यक्ति समस्त पापकर्मों के फलों (बन्धनों) का अन्त करके भौतिक जगत् के द्वन्द्वों से मुक्त हो जाता है, वह भगवान् कृष्ण की भक्ति में लग जाता है। दूसरे शब्दों में, जो लोग भगवद्भक्ति में लगे हुए हैं, वे समस्त कर्मफलों (बन्धनों) से पहले से मुक्त हुए रहते हैं। इस कथन की पुष्टि *पद्मपुराण* में हुई है—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम्।
क्रमेणैव प्रलीयेत विष्णुभक्तिरतात्मनाम्।।

जो लोग भगवद्भक्ति में रत हैं उनके सारे पापकर्म चाहे फलीभूत हो चुके हों, सामान्य हों या बीज रूप में हों, क्रमशः नष्ट हो जाते हैं। अतः भक्ति की शुद्धिकारिणी शक्ति अत्यन्त प्रबल है और *पवित्रम् उत्तमम्* अर्थात् विशुद्धतम कहलाती है। *उत्तम* का तात्पर्य दिव्य है। *तमस्* का अर्थ यह भौतिक जगत् या अंधकार है और *उत्तम* का अर्थ भौतिक कार्यों से परे हुआ। भक्तिमय कार्यों को कभी भी भौतिक नहीं मानना चाहिए यद्यपि कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि भक्त भी सामान्य जनों की भाँति रत रहते हैं। जो व्यक्ति भक्ति से अवगत होता है, वही जान सकता है कि भक्तिमय कार्य भौतिक नहीं होते। वे आध्यात्मिक होते हैं और प्रकृति के गुणों से सर्वथा अदूषित होते हैं।

कहा जाता है कि भक्ति की सम्पन्नता इतनी पूर्ण होती है कि उसके फलों का प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सकता है। हमने अनुभव किया है कि जो व्यक्ति कृष्ण के पवित्र नाम

(*हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*) का कीर्तन करता है उसे जप करते समय कुछ दिव्य आनन्द का अनुभव होता है और वह तुरन्त ही समस्त भौतिक कल्मष से शुद्ध हो जाता है। ऐसा सचमुच दिखाई पड़ता है। यही नहीं, यदि कोई श्रवण करने में ही नहीं अपितु भक्तिकार्यों के सन्देश को प्रचारित करने में भी लगा रहता है या कृष्णभावनामृत के प्रचार कार्यों में सहायता करता है, तो उसे क्रमशः आध्यात्मिक उन्नति का अनुभव होता रहता है। आध्यात्मिक जीवन की यह प्रगति किसी पूर्व शिक्षा या योग्यता पर निर्भर नहीं करती। यह विधि स्वयं इतनी शुद्ध है कि इसमें लगे रहने से मनुष्य शुद्ध बन जाता है।

वेदान्तसूत्र में (३.२.२६) भी इसका वर्णन *प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्* के रूप में हुआ है, जिसका अर्थ है कि भक्ति इतनी समर्थ है कि भक्तिकार्यों में रत होने मात्र से बिना किसी संदेह के प्रकाश प्राप्त हो जाता है। इसका उदाहरण नारद जी के पूर्वजन्म में देखा जा सकता है, जो पहले दासी के पुत्र थे। वे न तो शिक्षित थे, न ही राजकुल में उत्पन्न हुए थे, किन्तु जब उनकी माता भक्तों की सेवा करती रहती थीं, नारद भी सेवा करते थे और कभी-कभी माता की अनुपस्थिति में भक्तों की सेवा स्वयं करते रहते थे। नारद स्वयं कहते हैं—

उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः
सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः।
एवं प्रवृत्तस्य विशुद्धचेतस-
स्तद्धर्म एवात्मरुचिः प्रजायते॥

श्रीमद्भागवत के इस श्लोक में (१.५.२५) नारद जी अपने शिष्य व्यासदेव से अपने पूर्वजन्म का वर्णन करते हैं। वे कहते हैं कि पूर्वजन्म में बाल्यकाल में वे चातुर्मास में शुद्धभक्तों (भागवतों) की सेवा किया करते थे जिससे उन्हें उनकी संगति प्राप्त हुई। कभी-कभी वे ऋषि अपनी थालियों में उच्छिष्ट भोजन छोड़ देते और यह बालक थालियाँ धोते समय उच्छिष्ट भोजन को चखना चाहता था। अतः उसने उन ऋषियों से अनुमति माँगी और जब उन्होंने अनुमति दे दी तो बालक नारद उस उच्छिष्ट भोजन को खाता था। फलस्वरूप वह अपने समस्त पापकर्मों से मुक्त हो गया। ज्यों-ज्यों वह उच्छिष्ट खाता रहा त्यों-त्यों वह ऋषियों के समान शुद्ध-हृदय बनता गया। चूँकि वे महाभागवत भगवान् की भक्ति का आस्वाद श्रवण तथा कीर्तन द्वारा करते थे अतः नारद ने भी क्रमशः वैसी रुचि विकसित कर ली। नारद आगे कहते हैं—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायताम्
अनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः
प्रियश्रवस्यंग ममाभवद् रुचिः॥

ऋषियों की संगति करने से नारद में भी भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन की रुचि उत्पन्न हुई और उन्होंने भक्ति की तीव्र इच्छा विकसित की। अतः जैसा कि *वेदान्तसूत्र* में कहा गया है—*प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्*—जो भगवद्भक्ति के कार्यों में केवल लगा रहता है उसे स्वतः सारी अनुभूति हो जाती है और वह सब समझने लगता है।

इसी का नाम *प्रत्यक्ष* या प्रत्यक्ष अनुभूति है।

धर्म्यम् शब्द का अर्थ है "धर्म का पथ"। नारद वास्तव में दासी पुत्र थे। उन्हें किसी पाठशाला में जाने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। वे केवल माता के कार्यों में सहायता करते थे और सौभाग्यवश उनकी माता को भक्तों की सेवा का सुयोग प्राप्त हुआ था। बालक नारद को भी यह सुअवसर उपलब्ध हो सका कि वे भक्तों की संगति करने से ही समस्त धर्म के परमलक्ष्य को प्राप्त कर सके। यह लक्ष्य है—भक्ति, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है (*स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे*)। सामान्यतः धार्मिक व्यक्ति यह नहीं जानते कि धर्म का परमलक्ष्य भक्ति की प्राप्ति है जैसा कि हम पहले ही आठवें अध्याय के अन्तिम श्लोक की व्याख्या करते हुए कह चुके हैं (*वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव*) सामान्यतया आत्म-साक्षात्कार के लिए वैदिक ज्ञान आवश्यक है। किन्तु यहाँ पर नारद न तो किसी गुरु के पास पाठशाला में गये थे, न ही उन्हें वैदिक नियमों की शिक्षा मिली थी, तो भी उन्हें वैदिक अध्ययन के सर्वोच्च फल प्राप्त हो सके। यह विधि इतनी सशक्त है कि धार्मिक कृत्य किये बिना ही मनुष्य सिद्धि-पद को प्राप्त होता है। यह कैसे सम्भव होता है? इसकी भी पुष्टि वैदिक साहित्य में मिलती है—*आचार्यवान् पुरुषो वेद*। महान आचार्यों के संसर्ग में रहकर मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिए आवश्यक समस्त ज्ञान से अवगत हो जाता है, भले ही वह अशिक्षित हो या उसने वेदों का अध्ययन न किया हो।

भक्तियोग अत्यन्त सुखकर (*सुसुखम्*) होता है। ऐसा क्यों? क्योंकि भक्ति में *श्रवणं कीर्तनं विष्णोः* रहता है, जिससे मनुष्य भगवान् की महिमा के कीर्तन को सुन सकता है, या प्रामाणिक आचार्यों द्वारा दिये गये दिव्यज्ञान के दार्शनिक भाषण सुन सकता है। मनुष्य केवल बैठे रहकर सीख सकता है, ईश्वर को अर्पित अच्छे स्वादिष्ट भोजन का उच्छिष्ट खा सकता है। प्रत्येक दशा में भक्ति सुखमय है। मनुष्य गरीबी की हालत में भी भक्ति कर सकता है। भगवान् कहते हैं—*पत्रं पुष्पं फलं तोयं*—वे भक्त से हर प्रकार की भेंट लेने को तैयार रहते हैं। चाहे पत्र हो, पुष्प हो, फल हो या थोड़ा सा जल, जो कुछ भी संसार के किसी भी कोने में उपलब्ध हो, या किसी व्यक्ति द्वारा, उसकी सामाजिक स्थिति पर विचार किये बिना, अर्पित किये जाने पर भगवान् को वह स्वीकार है, यदि उसे प्रेमपूर्वक चढ़ाया जाय। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं। भगवान् के चरणकमलों पर चढ़े तुलसीदल का आस्वादन करके सनत्कुमार जैसे मुनि महान भक्त बन गये। अतः भक्तियोग अति उत्तम है और इसे प्रसन्न मुद्रा में सम्पन्न किया जा सकता है। भगवान् को तो वह प्रेम प्रिय है, जिससे उन्हें वस्तुएँ अर्पित की जाती हैं।

यहाँ पर कहा गया है कि भक्ति शाश्वत है। यह वैसी नहीं है, जैसा कि मायावादी चिन्तक साधिकार कहते हैं। यद्यपि वे कभी-कभी भक्ति करते हैं, किन्तु उनकी यह भावना रहती है कि जब तक मुक्ति न मिल जाये, तब तक उन्हें भक्ति करते रहना चाहिए, किन्तु अन्त में जब वे मुक्त हो जाएँगे तो ईश्वर से उनका तादात्म्य हो जाएगा। इस प्रकार की अस्थायी सीमित स्वार्थमय भक्ति शुद्ध भक्ति नहीं मानी जा सकती। वास्तविक भक्ति तो मुक्ति के बाद भी बनी रहती है। जब भक्त भगवद्धाम को जाता है तो वहाँ भी वह भगवान् की सेवा में रत हो जाता है। वह भगवान् से तदाकार नहीं होना चाहता।

जैसा कि *भगवद्गीता* में देखा जाएगा, वास्तविक भक्ति मुक्ति के बाद प्रारम्भ होती है। मुक्त होने पर जब मनुष्य ब्रह्मपद पर स्थित होता है (*ब्रह्मभूत*) तो उसकी भक्ति प्रारम्भ होती है (*समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्*)। कोई भी मनुष्य कर्मयोग, ज्ञानयोग, अष्टांगयोग या अन्य योग करके भगवान् को नहीं समझ सकता। इन योग-विधियों से भक्तियोग की दिशा में किंचित प्रगति हो सकती है, किन्तु भक्ति अवस्था को प्राप्त हुए बिना कोई भगवान् को समझ नहीं पाता। *श्रीमद्भागवत* में इसकी भी पुष्टि हुई है कि जब मनुष्य भक्तियोग सम्पन्न करके विशेष रूप से किसी महात्मा से *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* सुनकर शुद्ध हो जाता है, तो वह कृष्णविद्या या तत्त्वज्ञान को समझ सकता है। *एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः*। जब मनुष्य का हृदय समस्त व्यर्थ की बातों से रहित हो जाता है, तो वह समझ सकता है कि ईश्वर क्या है। इस प्रकार भक्तियोग या कृष्णभावनामृत समस्त विद्याओं का राजा और समस्त गुह्यज्ञान का राजा है। यह धर्म का शुद्धतम रूप है और इसे बिना कठिनाई के सुखपूर्वक सम्पन्न किया जा सकता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि इसे ग्रहण करे।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥

अश्रद्दधानाः–श्रद्धाविहीन; **पुरुषाः**–पुरुष; **धर्मस्य**–धर्म के प्रति; **अस्य**–इस; **परन्तप**–हे शत्रुहन्ता; **अप्राप्य**–बिना प्राप्त किये; **माम्**–मुझको; **निवर्तन्ते**–लौटते हैं; **मृत्युः**–मृत्यु के; **संसार**–संसार में; **वर्त्मनि**–पथ में।

हे परन्तप! जो लोग भक्ति में श्रद्धा नहीं रखते, वे मुझे प्राप्त नहीं कर पाते। अतः वे इस भौतिक जगत् में जन्म-मृत्यु के मार्ग पर वापस आते रहते हैं।

तात्पर्य : श्रद्धाविहीन के लिए भक्तियोग पाना कठिन है, यही इस श्लोक का तात्पर्य है। श्रद्धा तो भक्तों की संगति से उत्पन्न की जाती है। महापुरुषों से वैदिक प्रमाणों को सुनकर भी अभागे लोग ईश्वर में श्रद्धा नहीं रखते। वे झिझकते रहते हैं और भगवद्भक्ति में दृढ़ नहीं रहते। इस प्रकार कृष्णभावनामृत की प्रगति में श्रद्धा मुख्य है। *चैतन्यचरितामृत* में कहा गया है कि श्रद्धा तो यह पूर्ण विश्वास है कि परमेश्वर श्रीकृष्ण की ही सेवा द्वारा सारी सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। यही वास्तविक श्रद्धा है। *श्रीमद्भागवत* में (४.३१.१४) कहा गया है:–

यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कंधभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या॥

"वृक्ष की जड़ को सींचने से उसकी डालें, टहनियाँ तथा पत्तियाँ तुष्ट होती हैं और आमाशय को भोजन प्रदान करने से शरीर की सारी इन्द्रियाँ तृप्त होती हैं। इसी तरह भगवान् की दिव्यसेवा करने से सारे देवता तथा अन्य समस्त जीव स्वतः प्रसन्न होते हैं।" अतः *गीता* पढ़ने के बाद मनुष्य को चाहिए कि वह *गीता* के इस निष्कर्ष को प्राप्त हो–मनुष्य को अन्य सारे कार्य छोड़कर भगवान् कृष्ण की सेवा करनी चाहिए। यदि वह इस जीवन-दर्शन से विश्वस्त हो जाता है, तो यही श्रद्धा है।

इस श्रद्धा का विकास कृष्णभावनामृत की विधि है। कृष्णभावनाभावित व्यक्तियों की तीन कोटियाँ हैं। तीसरी कोटि में वे लोग आते हैं जो श्रद्धाविहीन हैं। यदि ऐसे लोग ऊपर-ऊपर भक्ति में लगे भी रहें तो भी उन्हें सिद्ध अवस्था प्राप्त नहीं हो पाती। सम्भावना यही है कि वे लोग कुछ काल के बाद नीचे गिर जाएँ। वे भले ही भक्ति में लगे रहें, किन्तु पूर्ण विश्वास तथा श्रद्धा के अभाव में कृष्णभावनामृत में उनका लगा रह पाना कठिन है। अपने प्रचार कार्यों के दौरान हमें इसका प्रत्यक्ष अनुभव है कि कुछ लोग आते हैं और किन्हीं गुप्त उद्देश्यों से कृष्णभावनामृत को ग्रहण करते हैं। किन्तु जैसे ही उनकी आर्थिक दशा कुछ सुधर जाती है कि वे इस विधि को त्यागकर पुनः पुराने ढर्रे पर लग जाते हैं। कृष्णभावनामृत में केवल श्रद्धा के द्वारा ही प्रगति की जा सकती है। जहाँ तक श्रद्धा की बात है, जो व्यक्ति भक्ति-साहित्य में निपुण है और जिसने दृढ़ श्रद्धा की अवस्था प्राप्त कर ली है, वह कृष्णभावनामृत का प्रथम कोटि का व्यक्ति कहलाता है। दूसरी कोटि में वे व्यक्ति आते हैं जिन्हें भक्ति-शास्त्रों का ज्ञान नहीं है, किन्तु स्वतः ही उनकी दृढ़ श्रद्धा है कि कृष्णभक्ति सर्वश्रेष्ठ मार्ग है, अतः वे इसे ग्रहण करते हैं। इस प्रकार वे तृतीय कोटि के उन लोगों से श्रेष्ठतर हैं, जिन्हें न तो शास्त्रों का पूर्णज्ञान है और न श्रद्धा ही है, अपितु संगति तथा सरलता के द्वारा वे उसका पालन करते हैं। तृतीय कोटि के व्यक्ति कृष्णभावनामृत से च्युत हो सकते हैं, किन्तु द्वितीय कोटि के व्यक्ति च्युत नहीं होते। प्रथम कोटि के लोगों के च्युत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। प्रथम कोटि के व्यक्ति निश्चित रूप से प्रगति करके अन्त में अभीष्ट फल प्राप्त करते हैं। तृतीय कोटि के व्यक्ति को यह श्रद्धा तो रहती है कि कृष्ण की भक्ति उत्तम होती है, किन्तु *भागवत* तथा *गीता* जैसे शास्त्रों से उसे कृष्ण का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त नहीं हो पाता। कभी-कभी इस तृतीय कोटि के व्यक्तियों की प्रवृत्ति कर्मयोग तथा ज्ञानयोग की ओर रहती है और कभी-कभी वे विचलित होते रहते हैं, किन्तु ज्योंही उनसे ज्ञान तथा कर्मयोग का संदूषण निकल जाता है, वे कृष्णभावनामृत की द्वितीय कोटि या प्रथम कोटि में प्रविष्ट होते हैं। कृष्ण के प्रति श्रद्धा भी तीन अवस्थाओं में विभाजित है और *श्रीमद्भागवत* में इनका वर्णन है। *भागवत* के ग्यारहवें स्कंध में प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कोटि की आस्तिकता का भी वर्णन हुआ है। जो लोग कृष्ण के विषय में तथा भक्ति की श्रेष्ठता को सुनकर भी श्रद्धा नहीं रखते और यह सोचते हैं कि यह मात्र प्रशंसा है, उन्हें यह मार्ग अत्यधिक कठिन जान पड़ता है, भले ही वे ऊपर से भक्ति में रत क्यों न हों। उन्हें सिद्धि प्राप्त होने की बहुत कम आशा है। इस प्रकार भक्ति करने के लिए श्रद्धा परमावश्यक है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥

मया—मेरे द्वारा; **ततम्**—व्याप्त है; **इदम्**—यह; **सर्वम्**—समस्त; **जगत्**—दृश्य जगत्; **अव्यक्त-मूर्तिना**—अव्यक्त रूप द्वारा; **मत्-स्थानि**—मुझमें; **सर्व-भूतानि**—समस्त जीव; **न**—नहीं; **च**—भी; **अहम्**—मैं; **तेषु**—उनमें; **अवस्थितः**—स्थित।

यह सम्पूर्ण जगत् मेरे अव्यक्त रूप द्वारा व्याप्त है। समस्त जीव मुझमें हैं, किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ।

तात्पर्य : भगवान् की अनुभूति स्थूल इन्द्रियों से नहीं हो पाती। कहा गया है कि–

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः॥

(भक्तिरसामृत सिन्धु १.२.२३४)

भगवान् श्रीकृष्ण के नाम, यश, लीलाओं आदि को भौतिक इन्द्रियों से नहीं समझा जा सकता। जो समुचित निर्देशन से भक्ति में लगा रहता है उसे ही भगवान् का साक्षात्कार हो पाता है। *ब्रह्मसंहिता* में (५.३८) कहा गया है–*प्रेमाञ्जनच्छुरित-भक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति*–यदि किसी ने भगवान् के प्रति दिव्य प्रेमाभिरुचि उत्पन्न कर ली है, तो वह सदैव अपने भीतर तथा बाहर भगवान् गोविन्द को देख सकता है। इस प्रकार वे सामान्यजनों के लिए दृश्य नहीं हैं। यहाँ पर कहा गया है कि यद्यपि भगवान् सर्वव्यापी हैं और सर्वत्र उपस्थित रहते हैं, किन्तु वे भौतिक इन्द्रियों द्वारा अनुभवगम्य नहीं हैं। इसका संकेत *अव्यक्तमूर्तिना* शब्द द्वारा हुआ है। भले ही हम उन्हें न देख सकें, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि उन्हीं पर सब कुछ आश्रित है। जैसा कि सातवें अध्याय में बताया जा चुका है कि सम्पूर्ण दृश्य जगत् उनकी दो विभिन्न शक्तियों–परा या आध्यात्मिक शक्ति तथा अपरा या भौतिक शक्ति–का संयोग मात्र है। जिस प्रकार सूर्यप्रकाश सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में फैला रहता है उसी प्रकार भगवान् की शक्ति सम्पूर्ण सृष्टि में फैली है और सारी वस्तुएँ उसी शक्ति पर टिकी हैं।

फिर भी किसी को इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचना चाहिए कि सर्वत्र फैले रहने के कारण भगवान् ने अपनी व्यक्तिगत सत्ता खो दी है। ऐसे तर्क का निराकरण करने के लिए ही भगवान् कहते हैं "मैं सर्वत्र हूँ और प्रत्येक वस्तु मुझमें है तो भी मैं पृथक् हूँ।" उदाहरणार्थ, राजा किसी सरकार का अध्यक्ष होता है और सरकार उसकी शक्ति का प्राकट्य होती है, विभिन्न सरकारी विभाग राजा की शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं होते और प्रत्येक विभाग राजा की क्षमता पर निर्भर रहता है। तो भी राजा से यह आशा नहीं की जाती कि वह प्रत्येक विभाग में स्वयं उपस्थित हो। यह एक मोटा सा उदारहण दिया गया। इसी प्रकार हम जितने स्वरूप देखते हैं और जितनी भी वस्तुएँ इस लोक में तथा परलोक में विद्यमान हैं वे सब भगवान् की शक्ति पर आश्रित हैं। सृष्टि की उत्पत्ति भगवान् की विभिन्न शक्तियों के विस्तार से होती है और जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है–*विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नम्*–वे अपने साकार रूप के कारण अपनी विभिन्न शक्तियों के विस्तार से सर्वत्र विद्यमान हैं।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः॥ ५॥

न–कभी नहीं; **च**–भी; **मत्-स्थानि**–मुझमें स्थित; **भूतानि**–सारी सृष्टि; **पश्य**–देखो; **मे**–मेरा;

योगम् ऐश्वरम्—अचिन्त्य योगशक्ति; **भूत-भृत्**—समस्त जीवों का पालक; **न**—नहीं; **च**—भी; **भूत-स्थः**—विराट अभिव्यक्ति में; **मम**—मेरा; **आत्मा**—स्व, आत्म; **भूत-भावनः**—समस्त अभिव्यक्तियों का स्रोत।

तथापि मेरे द्वारा उत्पन्न सारी वस्तुएँ मुझमें स्थित नहीं रहतीं। जरा, मेरे योग-ऐश्वर्य को देखो! यद्यपि मैं समस्त जीवों का पालक (भर्ता) हूँ और सर्वत्र व्याप्त हूँ, लेकिन मैं इस विराट अभिव्यक्ति का अंश नहीं हूँ, क्योंकि मैं सृष्टि का कारणस्वरूप हूँ।

तात्पर्य : भगवान् का कथन है कि सब कुछ उन्हीं पर आश्रित है (*मत्स्थानि सर्वभूतानि*)। इसका अन्य अर्थ नहीं लगाना चाहिए। भगवान् इस भौतिक जगत् के पालन तथा निर्वाह के लिए प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी नहीं हैं। कभी-कभी हम एटलस (एक रोमन देवता) को अपने कंधों पर गोला उठाये देखते हैं, वह अत्यन्त थका लगता है और इस विशाल पृथ्वीलोक को धारण किये रहता है। हमें किसी ऐसे चित्र को मन में नहीं लाना चाहिए, जिसमें कृष्ण इस सृजित ब्रह्माण्ड को धारण किये हुए हों। उनका कहना है कि यद्यपि सारी वस्तुएँ उन पर टिकी हैं, किन्तु वे पृथक् रहते हैं। सारे लोक अन्तरिक्ष में तैर रहे हैं और यह अन्तरिक्ष परमेश्वर की शक्ति है। किन्तु वे अन्तरिक्ष से भिन्न हैं, वे पृथक् स्थित हैं। अतः भगवान् कहते हैं "यद्यपि ये सब रचित पदार्थ मेरी अचिन्त्य शक्ति पर टिके हैं, किन्तु भगवान् के रूप में मैं उनसे पृथक् रहता हूँ।" यह भगवान् का अचिन्त्य ऐश्वर्य है।

वैदिककोश *निरुक्ति* में कहा गया है—*युज्यतेऽनेन दुर्घटेषु कार्येषु*—परमेश्वर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए अचिन्त्य आश्चर्यजनक लीलाएँ कर रहे हैं। उनका व्यक्तित्व विभिन्न शक्तियों से पूर्ण है और उनका संकल्प स्वयं एक तथ्य है। भगवान् को इसी रूप में समझना चाहिए। हम कोई काम करना चाहते हैं, तो अनेक विघ्न आते हैं और कभी-कभी हम जो चाहते हैं वह नहीं कर पाते। किन्तु जब कृष्ण कोई कार्य करना चाहते हैं, तो सब कुछ इतनी पूर्णता से सम्पन्न हो जाता है कि कोई सोच नहीं पाता कि यह सब कैसे हुआ। भगवान् इसी तथ्य को समझाते हैं—यद्यपि वे समस्त सृष्टि के पालक तथा धारणकर्ता हैं, किन्तु वे इस सृष्टि का स्पर्श नहीं करते। केवल उनकी परम इच्छा से प्रत्येक वस्तु का सृजन, धारण, पालन एवं संहार होता है। उनके मन और स्वयं उनमें कोई भेद नहीं है जैसा हमारे भौतिक मन में और स्वयं हम में भेद होता है, क्योंकि वे परमात्मा हैं। साथ ही वे प्रत्येक वस्तु में उपस्थित रहते हैं, किन्तु सामान्य व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि वे साकार रूप में किस तरह उपस्थित हैं। वे भौतिक जगत् से भिन्न हैं तो भी प्रत्येक वस्तु उन्हीं पर आश्रित है। यहाँ पर इसे ही *योगम् ऐश्वरम्* अर्थात् भगवान् की योगशक्ति कहा गया है।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥

यथा—जिस प्रकार; **आकाश-स्थितः**—आकाश में स्थित; **नित्यम्**—सदैव; **वायुः**—हवा; **सर्वत्र-**

गः—सभी जगह बहने वाली; **महान**—महान; **तथा**—उसी प्रकार; **सर्वाणि भूतानि**—सारे प्राणी; **मत्-स्थानि**—मुझमें स्थित; **इति**—इस प्रकार; **उपधारय**—समझो।

जिस प्रकार सर्वत्र प्रवहमान प्रबल वायु सदैव आकाश में स्थित रहती है, उसी प्रकार समस्त उत्पन्न प्राणियों को मुझमें स्थित जानो।

तात्पर्य : सामान्यजन के लिए यह समझ पाना कठिन है कि इतनी विशाल सृष्टि भगवान् पर किस प्रकार आश्रित है। किन्तु भगवान् उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिससे हमें समझने में सहायता मिले। आकाश हमारी कल्पना के लिए सबसे महान अभिव्यक्ति है और उस आकाश में वायु विराट जगत् की सबसे महान अभिव्यक्ति है। वायु की गति से प्रत्येक वस्तु की गति प्रभावित होती है। किन्तु वायु महान होते हुए भी आकाश के अन्तर्गत ही स्थित रहती है, वह आकाश से परे नहीं होती। इसी प्रकार समस्त विचित्र विराट अभिव्यक्तियों का अस्तित्व भगवान् की परम इच्छा के फलस्वरूप है और वे सब इस परम इच्छा के अधीन हैं जैसा कि हमलोग प्राय: कहते हैं उनकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु उनकी इच्छा के अधीन गतिशील है, उनकी ही इच्छा से सारी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं, उनका पालन होता है और उनका संहार होता है। इतने पर भी वे प्रत्येक वस्तु से उसी तरह पृथक् रहते हैं, जिस प्रकार वायु के कार्यों से आकाश रहता है।

उपनिषदों में कहा गया है—*यद्भीषा वातः पवते*—"वायु भगवान् के भय से प्रवाहित होती है" (तैत्तिरीय उपनिषद् २.८.१)। बृहदारण्यक उपनिषद् में (३.८.९) कहा गया है—*एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्यचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृतौ तिष्ठतः*—"भगवान् की अध्यक्षता में परमादेश से चन्द्रमा, सूर्य तथा अन्य विशाल लोक घूम रहे हैं।" *ब्रह्मसंहिता* में (५.५२) भी कहा गया है—

यच्चक्षुरेष सविता सकलग्रहाणां
राजा समस्तसुरमूर्तिरशेषतेजाः।
यस्याज्ञया भ्रमति सम्भृतकालचक्रो
गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि॥

यह सूर्य की गति का वर्णन है। कहा गया है कि सूर्य भगवान् का एक नेत्र है और इसमें ताप तथा प्रकाश फैलाने की अपार शक्ति है। तो भी यह गोविन्द की परम इच्छा और आदेश के अनुसार अपनी कक्षा में घूमता रहता है। अत: हमें वैदिक साहित्य से इसके प्रमाण प्राप्त हैं कि यह विचित्र तथा विशाल लगने वाली भौतिक सृष्टि पूरी तरह भगवान् के वश में है। इसकी व्याख्या इसी अध्याय के अगले श्लोकों में की गई है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ ७॥

सर्वभूतानि—सारे प्राणी; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **प्रकृतिम्**—प्रकृति में; **यान्ति**—प्रवेश करते हैं;

मामिकाम्—मेरी; **कल्प-क्षये**—कल्पान्त में; **पुनः**—फिर से; **तानि**—उन सबों को; **कल्प-आदौ**—कल्प के प्रारम्भ में; **विसृजामि**—उत्पन्न करता हूँ; **अहम्**—मैं।

हे कुन्तीपुत्र! कल्प का अन्त होने पर सारे प्राणी मेरी प्रकृति में प्रवेश करते हैं और अन्य कल्प के आरम्भ होने पर मैं उन्हें अपनी शक्ति से पुनः उत्पन्न करता हूँ।

तात्पर्य : इस विराट भौतिक अभिव्यक्ति का सृजन, पालन तथा संहार पूर्णतया भगवान् की परम इच्छा पर निर्भर है। *कल्पक्षये* का अर्थ है, ब्रह्मा की मृत्यु होने पर। ब्रह्मा एक सौ वर्ष जीवित रहते हैं और उनका एक दिन हमारे ४,३०,००,००,००० वर्षों के तुल्य है। रात्रि भी इतने ही वर्षों की होती है। ब्रह्मा के एक महीने में ऐसे तीस दिन तथा तीस रातें होती हैं और उनके एक वर्ष में ऐसे बारह महीने होते हैं। ऐसे एक सौ वर्षों के बाद जब ब्रह्मा की मृत्यु होती है, तो प्रलय हो जाता है, जिसका अर्थ है कि भगवान् द्वारा प्रकट शक्ति पुनः सिमट कर उन्हीं में चली जाती है। पुनः जब विराटजगत को प्रकट करने की आवश्यकता होती है तो उनकी इच्छा से सृष्टि उत्पन्न होती है। *एकोऽहं बहु स्याम्*—यद्यपि मैं अकेला हूँ, किन्तु मैं अनेक हो जाऊँगा। यह वैदिक सूक्ति है (*छान्दोग्य उपनिषद्* ६.२.३)। वे इस भौतिक शक्ति में अपना विस्तार करते हैं और सारी विराट अभिव्यक्ति पुनः घटित हो जाती है।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्॥ ८॥

प्रकृतिम्—प्रकृति में; **स्वाम्**—मेरी निजी; **अवष्टभ्य**—प्रवेश करके; **विसृजामि**—उत्पन्न करता हूँ; **पुनः पुनः**—बारम्बार; **भूत-ग्रामम्**—समस्त विराट अभिव्यक्ति को; **इमम्**—इस; **कृत्स्नम्**—पूर्णतः; **अवशम्**—स्वतः; **प्रकृतेः**—प्रकृति की शक्ति के; **वशात्**—वश में।

सम्पूर्ण विराट जगत मेरे अधीन है। यह मेरी इच्छा से बारम्बार स्वतः प्रकट होता रहता है और मेरी ही इच्छा से अन्त में विनष्ट होता है।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत् भगवान् की अपराशक्ति की अभिव्यक्ति है। इसकी व्याख्या कई बार की जा चुकी है। सृष्टि के समय यह शक्ति महत्तत्त्व के रूप में प्रकट होती है जिसमें भगवान् अपने प्रथम पुरुष अवतार, महाविष्णु, के रूप में प्रवेश कर जाते हैं। वे कारणार्णव में शयन करते रहते हैं और अपने श्वास से असंख्य ब्रह्माण्ड निकालते हैं और इन ब्रह्माण्डों में से हर एक में वे गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है। वे इससे भी आगे अपने आपको क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में प्रकट करते हैं और यह विष्णु प्रत्येक वस्तु में, यहाँ तक कि प्रत्येक अणु में प्रवेश कर जाते हैं। इसी तथ्य की व्याख्या यहाँ हुई है। भगवान् प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करते हैं।

जहाँ तक जीवात्माओं का सम्बन्ध है, वे इस भौतिक प्रकृति में गर्भस्थ किये जाते हैं और वे अपने-अपने पूर्वकर्मों के अनुसार विभिन्न योनियाँ ग्रहण करते हैं। इस प्रकार इस भौतिक जगत् के कार्यकलाप प्रारम्भ होते हैं। विभिन्न जीव-योनियों के कार्यकलाप सृष्टि के समय से ही प्रारम्भ हो जाते हैं। ऐसा नहीं है कि ये योनियाँ क्रमशः विकसित

होती हैं। सारी की सारी योनियाँ ब्रह्माण्ड की सृष्टि के साथ ही उत्पन्न होती हैं। मनुष्य, पशु, पक्षी—ये सभी एकसाथ उत्पन्न होते हैं, क्योंकि पूर्व प्रलय के समय जीवों की जो-जो इच्छाएँ थीं वे पुनः प्रकट होती हैं। इसका स्पष्ट संकेत *अवशम्* शब्द से मिलता है कि जीवों को इस प्रक्रिया से कोई सरोकार नहीं रहता। पूर्व सृष्टि में वे जिस-जिस अवस्था में थे, वे उस-उस अवस्था में पुनः प्रकट हो जाते हैं और यह सब भगवान् की इच्छा से ही सम्पन्न होता है। यही भगवान् की अचिन्त्य शक्ति है। विभिन्न योनियों को उत्पन्न करने के बाद भगवान् का उनसे कोई नाता नहीं रह जाता। यह सृष्टि विभिन्न जीवों की रुचियों को पूरा करने के उद्देश्य से की जाती है। अतः भगवान् इसमें किसी तरह से बद्ध नहीं होते हैं।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु॥९॥

न—कभी नहीं; **च**—भी; **माम्**—मुझको; **तानि**—वे; **कर्माणि**—कर्म; **निबध्नन्ति**—बाँधते हैं; **धनञ्जय**—हे धन के विजेता; **उदासीन-वत्**—निरपेक्ष या तटस्थ की तरह; **आसीनम्**—स्थित हुआ; **असक्तम्**—आसक्तिरहित; **तेषु**—उन; **कर्मसु**—कार्यों में।

हे धनञ्जय! ये सारे कर्म मुझे नहीं बाँध पाते हैं। मैं उदासीन की भाँति इन सारे भौतिक कर्मों से सदैव विरक्त रहता हूँ।

तात्पर्य : इस प्रसंग में यह नहीं सोच लेना चाहिए कि भगवान् के पास कोई काम नहीं है। वे अपने वैकुण्ठलोक में सदैव व्यस्त रहते हैं। *ब्रह्मसंहिता* में (५.६) कहा गया है—*आत्मारामस्य तस्यास्ति प्रकृत्या न समागमः*—वे सतत दिव्य आनन्दमय आध्यात्मिक कार्यों में रत रहते हैं, किन्तु इन भौतिक कार्यों से उनका कोई सरोकार नहीं रहता। सारे भौतिक कार्य उनकी विभिन्न शक्तियों द्वारा सम्पन्न होते रहते हैं। वे सदा ही इस सृष्टि के भौतिक कार्यों के प्रति उदासीन रहते हैं। इस उदासीनता को ही यहाँ पर *उदासीनवत्* कहा गया है। यद्यपि छोटे से छोटे भौतिक कार्य पर उनका नियन्त्रण रहता है, किन्तु वे *उदासीनवत्* स्थित रहते हैं। यहाँ पर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का उदाहरण दिया जा सकता है, जो अपने आसन पर बैठा रहता है। उसके आदेश से अनेक तरह की बातें घटती रहती हैं—किसी को फाँसी दी जाती है, किसी को कारावास की सजा मिलती है, तो किसी को प्रचुर धनराशि मिलती है, तो भी वह उदासीन रहता है। उसे इस हानि-लाभ से कुछ भी लेना-देना नहीं रहता। इसी प्रकार भगवान् भी सदैव उदासीन रहते हैं, यद्यपि प्रत्येक कार्य में उनका हाथ रहता है। *वेदान्तसूत्र* में (२.१.३४) यह कहा गया है—*वैषम्यनैर्घृण्ये न*—वे इस जगत् के द्वन्द्वों में स्थित नहीं हैं। वे इन द्वन्द्वों से अतीत हैं। न ही इस जगत् की सृष्टि तथा प्रलय में ही उनकी आसक्ति रहती है। सारे जीव अपने पूर्वकर्मों के अनुसार विभिन्न योनियाँ ग्रहण करते रहते हैं और भगवान् इसमें कोई व्यवधान नहीं डालते।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥ १०॥

मया—मेरे द्वारा; **अध्यक्षेण**—अध्यक्षता के कारण; **प्रकृतिः**—प्रकृति; **सूयते**—प्रकट होती है; **स**—सहित; **चर-अचरम्**—जड़ तथा जंगम; **हेतुना**—कारण से; **अनेन**—इस; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **जगत्**—दृश्य जगत; **विपरिवर्तते**—क्रियाशील है।

हे कुन्तीपुत्र! यह भौतिक प्रकृति मेरी शक्तियों में से एक है और मेरी अध्यक्षता में कार्य करती है, जिससे सारे चर तथा अचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। इसके शासन में यह जगत् बारम्बार सृजित और विनष्ट होता रहता है।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि यद्यपि परमेश्वर इस जगत् के समस्त कार्यों से पृथक् रहते हैं, किन्तु इसके परम अध्यक्ष (निर्देशक) वही बने रहते हैं। परमेश्वर परम इच्छामय हैं और इस भौतिक जगत् के आधारभूमिस्वरूप हैं, किन्तु इसकी सभी व्यवस्था प्रकृति द्वारा की जाती है। *भगवद्गीता* में भी कृष्ण यह कहते हैं—"मैं विभिन्न योनियों और रूपों वाले जीवों का पिता हूँ।" जिस तरह पिता बालक उत्पन्न करने के लिए माता के गर्भ में वीर्य स्थापित करता है, उसी प्रकार परमेश्वर अपनी चितवन मात्र से प्रकृति के गर्भ में जीवों को प्रविष्ट करते हैं और वे अपनी अन्तिम इच्छाओं तथा कर्मों के अनुसार विभिन्न रूपों तथा योनियों में प्रकट होते हैं। अतः भगवान् इस जगत् से प्रत्यक्ष रूप में आसक्त नहीं होते। वे प्रकृति पर दृष्टिपात करते हैं, इस तरह प्रकृति क्रियाशील हो उठती है और तुरन्त ही सारी वस्तुएँ उत्पन्न हो जाती हैं। चूँकि वे प्रकृति पर दृष्टिपात करते हैं, इसलिए परमेश्वर की ओर से तो निःसन्देह क्रिया होती है, किन्तु भौतिक जगत् के प्राकट्य से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं रहता। स्मृति में एक उदाहरण मिला है जो इस प्रकार है—जब किसी व्यक्ति के समक्ष फूल होता है तो उसे उसकी सुगन्धि मिलती रहती है, किन्तु फूल तथा सुगन्धि एक दूसरे से विलग रहते हैं। ऐसा ही सम्बन्ध भौतिक जगत् तथा भगवान् के बीच भी है। वस्तुतः भगवान् को इस जगत् से कोई प्रयोजन नहीं रहता, किन्तु वे ही इसे अपने दृष्टिपात से उत्पन्न करते तथा व्यवस्थित करते हैं। सारांश के रूप में हम कह सकते हैं कि परमेश्वर की अध्यक्षता के बिना प्रकृति कुछ भी नहीं कर सकती। तो भी भगवान् समस्त कार्यों से पृथक् रहते हैं।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥ ११॥

अवजानन्ति—उपहास करते हैं; **माम्**—मुझको; **मूढाः**—मूर्ख व्यक्ति; **मानुषीम्**—मनुष्य रूप में; **तनुम्**—शरीर; **आश्रितम्**—मानते हुए; **परम्**—दिव्य; **भावम्**—स्वभाव को; **अजानन्तः**—न जानते हुए; **मम**—मेरा; **भूत**—प्रत्येक वस्तु का; **महा-ईश्वरम्**—परम स्वामी।

जब मैं मनुष्य रूप में अवतरित होता हूँ, तो मूर्ख मेरा उपहास करते हैं। वे मुझ परमेश्वर के दिव्य स्वभाव को नहीं जानते।

तात्पर्य : इस अध्याय के पूर्ववर्ती श्लोकों से यह स्पष्ट है कि यद्यपि भगवान् मनुष्य रूप में प्रकट होते हैं, किन्तु वे सामान्य व्यक्ति नहीं होते। जो भगवान् सारे विराट जगत का सृजन, पालन तथा संहार करता हो वह मनुष्य नहीं हो सकता। तो भी ऐसे अनेक मूर्ख हैं, जो कृष्ण को एक शक्तिशाली पुरुष के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते। वस्तुतः वे आदि परमपुरुष हैं, जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में प्रमाण स्वरूप कहा गया है—*ईश्वरः परमः कृष्णः*—वे परम ईश्वर हैं।

ईश्वर या नियन्ता अनेक हैं और वे एक दूसरे से बढ़कर प्रतीत होते हैं। भौतिक जगत् में सामान्य प्रबन्धकार्यों का कोई न कोई निर्देशक होता है, जिसके ऊपर एक सचिव होता है, फिर उसके ऊपर मन्त्री तथा उससे भी ऊपर राष्ट्रपति होता है। इनमें से हर एक नियन्त्रक होता है, किन्तु एक दूसरे के द्वारा नियन्त्रित होता है। *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है कि कृष्ण परम नियन्ता हैं। निस्सन्देह भौतिक जगत् तथा वैकुण्ठलोक दोनों में ही कई-कई निर्देशक होते हैं, किन्तु कृष्ण परम नियन्ता हैं (*ईश्वरः परमः कृष्णः*) तथा उनका शरीर सच्चिदानन्द रूप अर्थात् अभौतिक होता है।

पिछले श्लोकों में जिन अद्भुत कार्यकलापों का वर्णन हुआ है, वे भौतिक शरीर द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकते। कृष्ण का शरीर सच्चिदानन्द रूप है। यद्यपि वे सामान्य व्यक्ति नहीं हैं, किन्तु मूर्ख लोग उनका उपहास करते हैं और उन्हें मनुष्य मानते हैं। उनका शरीर यहाँ *मानुषीम्* कहा गया है, क्योंकि वे कुरुक्षेत्र युद्ध में एक राजनीतिज्ञ और अर्जुन के मित्र की भाँति सामान्य व्यक्ति बनकर कर्म करते हैं। वे अनेक प्रकार से सामान्य पुरुष की भाँति कर्म करते हैं, किन्तु उनका शरीर सच्चिदानन्द विग्रह रूप है। इसकी पुष्टि वैदिक साहित्य में भी हुई है। *सच्चिदानन्द रूपाय कृष्णाय*—मैं भगवान् कृष्ण को नमस्कार करता हूँ जो सच्चिदानन्द रूप हैं (*गोपाल तापनी उपनिषद्* १.१)। वेदों में ऐसे अन्य वर्णन भी हैं। *तमेकं गोविन्दम्*—आप इन्द्रियों तथा गायों के आनन्दस्वरूप गोविन्द हैं। *सच्चिदानन्दविग्रहम्*—तथा आपका रूप सच्चिदानन्द स्वरूप है (*गोपाल-तापनी उपनिषद्* १.३५)।

भगवान् कृष्ण के सच्चिदानन्दस्वरूप होने पर भी ऐसे अनेक तथाकथित विद्वान् तथा *भगवद्गीता* के टीकाकार हैं जो कृष्ण को सामान्य पुरुष कहकर उनका उपहास करते हैं। भले ही अपने पूर्व पुण्यों के कारण विद्वान् असाधारण व्यक्ति के रूप में पैदा हुआ हो, किन्तु श्रीकृष्ण के बारे में ऐसी धारणा उसकी अल्पज्ञता के कारण होती है। इसीलिए वह मूढ कहलाता है, क्योंकि मूर्ख पुरुष ही कृष्ण को सामान्य पुरुष मानते हैं। ऐसे मूर्ख कृष्ण को सामान्य व्यक्ति इसीलिए मानते हैं, क्योंकि वे कृष्ण के गुह्य कर्मों तथा उनकी विभिन्न शक्तियों से अपरिचित होते हैं। वे यह नहीं जानते कि कृष्ण का शरीर पूर्णज्ञान तथा आनन्द का प्रतीक है, वे प्रत्येक वस्तु के स्वामी हैं और किसी को भी मुक्ति प्रदान करने वाले हैं। चूँकि वे कृष्ण के इतने सारे दिव्य गुणों को नहीं जानते, इसीलिए उनका उपहास करते हैं।

ये मूढ यह भी नहीं जानते कि इस जगत् में भगवान् का अवतरण उनकी अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य है। वे भौतिक शक्ति (माया) के स्वामी हैं। जैसा कि अनेक स्थलों पर कहा जा चुका है (*मम माया दुरत्यया*), भगवान् का दावा है कि यद्यपि भौतिक शक्ति

अत्यन्त प्रबल है, किन्तु वह उनके वश में रहती है और जो भी उनकी शरण ग्रहण कर लेता है, वह इस माया के वश से बाहर निकल आता है। यदि कृष्ण का शरणागत जीव माया के प्रभाव से बाहर निकल सकता है, तो भला परमेश्वर जो सम्पूर्ण विराट जगत् का सृजन, पालन तथा संहारकर्ता है, हम लोगों जैसा शरीर कैसे धारण कर सकता है? अतः कृष्ण विषयक ऐसी धारणा मूर्खतापूर्ण है। फिर भी मूर्ख व्यक्ति यह नहीं समझ सकते कि सामान्य व्यक्ति के रूप में प्रकट होने वाले भगवान् कृष्ण समस्त परमाणुओं तथा इस विराट ब्रह्माण्ड के नियन्ता किस तरह हो सकते हैं। बृहत्तम तथा सूक्ष्मतम तो उनकी विचार शक्ति से परे होते हैं, अतः वे यह सोच भी नहीं सकते कि मनुष्य-जैसा रूप कैसे एक साथ विशाल को तथा अणु को वश में कर सकता है। यद्यपि कृष्ण असीम तथा ससीम को नियन्त्रित करते हैं, किन्तु वे इस जगत् से विलग रहते हैं। उनके *योगमैश्वरम्* या अचिन्त्य दिव्य शक्ति के विषय में कहा गया है कि वे एकसाथ ससीम तथा असीम को वश में रख सकते हैं, तो भी वे उनसे पृथक् रहते हैं। यद्यपि मूर्ख लोग यह सोच भी नहीं पाते कि मनुष्य रूप में उत्पन्न होकर कृष्ण किस तरह असीम तथा ससीम को वश में कर सकते हैं, किन्तु जो शुद्धभक्त हैं वे इसे स्वीकार करते हैं, क्योंकि उन्हें पता है कि कृष्ण भगवान् हैं। अतः वे पूर्णतया उनकी शरण में जाते हैं और कृष्णभावनामृत में रहकर कृष्ण की भक्ति में अपने को रत रखते हैं।

सगुणवादियों तथा निर्गुणवादियों में भगवान् के मनुष्य रूप में प्रकट होने को लेकर काफी मतभेद है। किन्तु यदि हम *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे प्रामाणिक ग्रंथों का अनुशीलन कृष्णतत्त्व समझने के लिए करें तो हम समझ सकते हैं कि कृष्ण श्रीभगवान् हैं। यद्यपि वे इस धराधाम में सामान्य व्यक्ति की भाँति प्रकट हुए थे, किन्तु वे सामान्य व्यक्ति हैं नहीं। *श्रीमद्भागवत* में (१.१.२०) जब शौनक आदि मुनियों ने सूत गोस्वामी से कृष्ण के कार्यकलापों के विषय में पूछा तो उन्होंने कहा—

कृतवान् किल कर्माणि सह रामेण केशवः।
अतिमर्त्यानि भगवान् गूढः कपटमानुषः॥

"भगवान् श्रीकृष्ण ने बलराम के साथ-साथ मनुष्य की भाँति क्रीड़ा की और इस तरह प्रच्छन्न रूप में उन्होंने अनेक अतिमानवीय कार्य किये।" मनुष्य के रूप में भगवान् का प्राकट्य मूर्ख को मोहित बना देता है। कोई भी मनुष्य उन अलौकिक कार्यों को सम्पन्न नहीं कर सकता जिन्हें उन्होंने इस धरा पर करके दिखा दिया था। जब कृष्ण अपने पिता तथा माता (वसुदेव तथा देवकी) के समक्ष प्रकट हुए तो वे चार भुजाओं से युक्त थे। किन्तु माता-पिता की प्रार्थना पर उन्होंने एक सामान्य शिशु का रूप धारण कर लिया—*बभूव प्राकृतः शिशुः* (*भागवत* १०.३.४६)। वे एक सामान्य शिशु, एक सामान्य मानव बन गये। यहाँ पर भी यह इंगित होता है कि सामान्य व्यक्ति के रूप में प्रकट होना उनके दिव्य शरीर का एक गुण है। *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय में भी कहा गया है कि अर्जुन ने कृष्ण से अपना चतुर्भुज रूप दिखलाने के लिए प्रार्थना की (*तेनैव रूपेण* चतुर्भुजेन)। इस रूप को प्रकट करने के बाद अर्जुन के प्रार्थना करने पर उन्होंने पूर्व मनुष्य रूप धारण कर लिया (*मानुषं रूपम्*)। भगवान् के ये विभिन्न गुण निश्चय ही सामान्य मनुष्य जैसे नहीं हैं।

कतिपय लोग, जो कृष्ण का उपहास करते हैं और मायावादी दर्शन से प्रभावित होते हैं, *श्रीमद्भागवत* के निम्नलिखित श्लोक (३.२९.२१) को यह सिद्ध करने के लिए उद्धृत करते हैं कि कृष्ण एक सामान्य व्यक्ति थे। *अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा*—परमेश्वर समस्त जीवों में विद्यमान हैं। अच्छा हो कि इस श्लोक को हम जीव गोस्वामी तथा विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर जैसे वैष्णव आचार्यों से ग्रहण करें, न कि कृष्ण का उपहास करने वाले अनधिकारी व्यक्तियों की व्याख्याओं से। जीव गोस्वामी इस श्लोक की टीका करते हुए कहते हैं कि कृष्ण समस्त चराचरों में अपने अंश विस्तार परमात्मा के रूप में स्थित हैं। अतः कोई भी नवदीक्षित भक्त जो मन्दिर में भगवान् की अर्चामूर्ति पर ही ध्यान देता है और अन्य जीवों का सम्मान नहीं करता वह वृथा ही मन्दिर में भगवान् की पूजा में लगा रहता है। भगवद्भक्तों के तीन प्रकार हैं, जिनमें से नवदीक्षित सबसे निम्न श्रेणी के हैं। नवदीक्षित भक्त अन्य भक्तों की अपेक्षा मन्दिर के अर्चाविग्रह पर अधिक ध्यान देते हैं, अतः विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर चेतावनी देते हैं कि इस प्रकार की मानसिकता को सुधारना चाहिए। भक्त को समझना चाहिए कि चूँकि कृष्ण परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं, अतः प्रत्येक व्यक्ति परमेश्वर का निवास या मन्दिर है, इसलिए जिस तरह कोई भक्त भगवान् के मन्दिर का सम्मान करता है, वैसे ही उसे प्रत्येक जीव का सम्मान करना चाहिए, जिसमें परमात्मा निवास करता है। अतः प्रत्येक व्यक्ति का समुचित सम्मान करना चाहिए, कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

ऐसे अनेक निर्विशेषवादी हैं जो मन्दिरपूजा का उपहास करते हैं। वे कहते हैं कि चूँकि भगवान् सर्वत्र हैं तो फिर अपने को हम मन्दिरपूजा तक ही सीमित क्यों रखें? यदि ईश्वर सर्वत्र हैं तो क्या वे मन्दिर या अर्चाविग्रह में नहीं होंगे? यद्यपि सगुणवादी तथा निर्विशेषवादी निरन्तर लड़ते रहेंगे, किन्तु कृष्णभावनामृत में पूर्ण भक्त यह जानता है कि यद्यपि कृष्ण भगवान् हैं, किन्तु इसके साथ वे सर्वव्यापी भी हैं, जिसकी पुष्टि *ब्रह्मसंहिता* में हुई है। यद्यपि उनका निजी धाम गोलोक वृन्दावन है और वे वहीं निरन्तर वास करते हैं, किन्तु वे अपनी शक्ति की विभिन्न अभिव्यक्तियों द्वारा तथा अपने स्वांश द्वारा भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत् में सर्वत्र विद्यमान रहते हैं।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः॥१२॥

मोघ-आशाः—निष्फल आशा; **मोघ-कर्माणः**—निष्फल सकाम कर्म; **मोघ-ज्ञानाः**—विफल ज्ञान; **विचेतसः**—मोहग्रस्त; **राक्षसीम्**—राक्षसी; **आसुरीम्**—आसुरी; **च**—तथा; **एव**—निश्चय ही; **प्रकृतिम्**—स्वभाव को; **मोहिनीम्**—मोहने वाली; **श्रिताः**—शरण ग्रहण किये हुए।

जो लोग इस प्रकार मोहग्रस्त होते हैं, वे आसुरी तथा नास्तिक विचारों के प्रति आकृष्ट रहते हैं। इस मोहग्रस्त अवस्था में उनकी मुक्ति-आशा, उनके सकाम कर्म तथा ज्ञान का अनुशीलन सभी निष्फल हो जाते हैं।

तात्पर्य : ऐसे अनेक भक्त हैं जो अपने को कृष्णभावनामृत तथा भक्ति में रत दिखलाते हैं, किन्तु अन्तःकरण से वे भगवान् कृष्ण को परब्रह्म नहीं मानते। ऐसे लोगों को कभी

भी भक्ति-फल—भगवद्धाम गमन—प्राप्त नहीं होता। इसी प्रकार जो पुण्यकर्मों में लगे रहकर अन्ततोगत्वा इस भवबन्धन से मुक्त होना चाहते हैं, वे भी सफल नहीं हो पाते, क्योंकि वे कृष्ण का उपहास करते हैं। दूसरे शब्दों में, जो लोग कृष्ण पर हँसते हैं, उन्हें आसुरी या नास्तिक समझना चाहिए। जैसा कि सातवें अध्याय में बताया जा चुका है, ऐसे आसुरी दुष्ट कभी भी कृष्ण की शरण में नहीं जाते। अतः परम सत्य तक पहुँचने के उनके मानसिक चिन्तन उन्हें इस मिथ्या परिणाम को प्राप्त कराते हैं कि सामान्य जीव तथा कृष्ण एक समान हैं। ऐसी मिथ्या धारणा के कारण वे सोचते हैं कि अभी तो यह शरीर प्रकृति द्वारा केवल आच्छादित है और ज्योंही व्यक्ति मुक्त होगा, तो उसमें तथा ईश्वर में कोई अन्तर नहीं रह जाएगा। कृष्ण से समता का यह प्रयास भ्रम के कारण निष्फल हो जाता है। इस प्रकार का आसुरी तथा नास्तिक ज्ञान-अनुशीलन सदैव व्यर्थ रहता है, यही इस श्लोक का संकेत है। ऐसे व्यक्तियों के लिए वेदान्त सूत्र तथा उपनिषदों जैसे वैदिक वाङ्मय के ज्ञान का अनुशीलन सदा निष्फल होता है।

अतः भगवान् कृष्ण को सामान्य व्यक्ति मानना घोर अपराध है। जो ऐसा करते हैं वे निश्चित रूप से मोहग्रस्त रहते हैं, क्योंकि वे कृष्ण के शाश्वत रूप को नहीं समझ पाते। *बृहद्विष्णु स्मृति* का कथन है—

यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः।
स सर्वस्माद् बहिष्कार्यः श्रौतस्मार्तविधानतः।
मुखं तस्यावलोक्यापि सचेलं स्नानमाचरेत्॥

"जो कृष्ण के शरीर को भौतिक मानता है उसे श्रुति तथा स्मृति के समस्त अनुष्ठानों से वंचित कर देना चाहिए। यदि कोई भूल से उसका मुँह देख ले तो उसे तुरन्त गंगा स्नान करना चाहिए, जिससे छूत दूर हो सके।" लोग कृष्ण की हँसी उड़ाते हैं क्योंकि वे भगवान् से ईर्ष्या करते हैं। उनके भाग्य में जन्म-जन्मान्तर नास्तिक तथा असुर योनियों में रहे आना लिखा है। उनका वास्तविक ज्ञान सदैव के लिए भ्रम में रहेगा और धीरे-धीरे वे सृष्टि के गहनतम अन्धकार में गिरते जायेंगे।"

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

महा-आत्मनः—महापुरुष; **तु**—लेकिन; **माम्**—मुझको; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **दैवीम्**—दैवी; **प्रकृतिम्**—प्रकृति के; **आश्रिताः**—शरणागत; **भजन्ति**—सेवा करते हैं; **अनन्य-मनसः**—अविचलित मन से; **ज्ञात्वा**—जानकर; **भूत**—सृष्टि का; **आदिम्**—उद्गम; **अव्ययम्**—अविनाशी।

हे पार्थ! मोहमुक्त महात्माजन दैवी प्रकृति के संरक्षण में रहते हैं। वे पूर्णतः भक्ति में निमग्न रहते हैं क्योंकि वे मुझे आदि तथा अविनाशी भगवान् के रूप में जानते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *महात्मा* का वर्णन हुआ है। महात्मा का सबसे पहला लक्षण यह है कि वह दैवी प्रकृति में स्थित रहता है। वह भौतिक प्रकृति के अधीन नहीं होता और

यह होता कैसे है? इसकी व्याख्या सातवें अध्याय में की गई है–जो भगवान् श्रीकृष्ण की शरण ग्रहण करता है वह तुरन्त ही भौतिक प्रकृति के वश से मुक्त हो जाता है। यही वह पात्रता है। ज्योंही कोई भगवान् का शरणागत हो जाता है वह भौतिक प्रकृति के वश से मुक्त हो जाता है। यही मूलभूत सूत्र है। तटस्था शक्ति होने के कारण जीव ज्योंही भौतिक प्रकृति के वश से मुक्त होता है त्योंही वह आध्यात्मिक प्रकृति के निर्देशन में चला जाता है। आध्यात्मिक प्रकृति का निर्देशन ही दैवी प्रकृति कहलाती है। इस प्रकार से जब कोई भगवान् के शरणागत होता है तो उसे *महात्मा* पद की प्राप्ति होती है।

महात्मा अपने ध्यान को कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी ओर नहीं ले जाता, क्योंकि वह भलीभाँति जानता है कि कृष्ण ही आदि परम पुरुष, समस्त कारणों के कारण हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। ऐसा महात्मा अन्य महात्माओं या शुद्धभक्तों की संगति से प्रगति करता है। शुद्धभक्त तो कृष्ण के अन्य स्वरूपों, यथा चतुर्भुज महाविष्णु रूप से भी आकृष्ट नहीं होते। वे न तो कृष्ण के अन्य किसी रूप से आकृष्ट होते हैं, न ही वे देवताओं या मनुष्यों के किसी रूप की परवाह करते हैं। वे कृष्णभावनामृत में केवल कृष्ण का ध्यान करते हैं। वे कृष्णभावनामृत में निरन्तर भगवान् की अविचल सेवा में लगे रहते हैं।

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते॥ १४॥

सततम्–निरन्तर; **कीर्तयन्तः**–कीर्तन करते हुए; **माम्**–मेरे विषय में; **यतन्तः**–प्रयास करते हुए; **च**–भी; **दृढ-व्रताः**–संकल्पपूर्वक; **नमस्यन्तः**–नमस्कार करते हुए; **च**–तथा; **माम्**–मुझको; **भक्त्या**–भक्ति में; **नित्य-युक्ताः**–सदैव रत रहकर; **उपासते**–पूजा करते हैं।

ये महात्मा मेरी महिमा का नित्य कीर्तन करते हुए दृढसंकल्प के साथ प्रयास करते हुए, मुझे नमस्कार करते हुए, भक्तिभाव से निरन्तर मेरी पूजा करते हैं।

तात्पर्य : सामान्य पुरुष को रबर की मुहर लगाकर महात्मा नहीं बनाया जाता। यहाँ पर उसके लक्षणों का वर्णन किया गया है–महात्मा सदैव भगवान् कृष्ण के गुणों का कीर्तन करता रहता है, उसके पास कोई दूसरा कार्य नहीं रहता। वह सदैव कृष्ण के गुण-गान में व्यस्त रहता है। दूसरे शब्दों में, वह निर्विशेषवादी नहीं होता। जब गुण-गान का प्रश्न उठे तो मनुष्य को चाहिए कि वह भगवान् के पवित्र नाम, उनके नित्य रूप, उनके दिव्य गुणों तथा उनकी असामान्य लीलाओं की प्रशंसा करते हुए परमेश्वर को महिमान्वित करे। उसे इन सारी वस्तुओं को महिमान्वित करना होता है, अतः महात्मा भगवान् के प्रति आसक्त रहता है।

जो व्यक्ति परमेश्वर के निराकार रूप, *ब्रह्मज्योति*, के प्रति आसक्त होता है उसे *भगवद्गीता* में महात्मा नहीं कहा गया। उसे अगले श्लोक में अन्य प्रकार से वर्णित किया गया है। महात्मा सदैव भक्ति के विविध कार्यों में, यथा विष्णु के श्रवण-कीर्तन में, व्यस्त रहता है, जैसा कि *श्रीमद्भागवत* में उल्लेख है। यही भक्ति *श्रवणं कीर्तनं*

विष्णोः तथा *स्मरणं* है। ऐसा महात्मा अन्ततः भगवान् के पाँच दिव्य रसों में से किसी एक रस में उनका सान्निध्य प्राप्त करने के लिए दृढव्रत होता है। इसे प्राप्त करने के लिए वह *मनसा वाचा कर्मणा* अपने सारे कार्यकलाप भगवान् कृष्ण की सेवा में लगाता है। यही पूर्ण कृष्णभावनामृत कहलाता है।

भक्ति में कुछ कार्य हैं जिन्हें *दृढव्रत* कहा जाता है, यथा प्रत्येक एकादशी को तथा भगवान् के आविर्भाव दिवस (जन्माष्टमी) पर उपवास करना। ये सारे विधि-विधान महान आचार्यों द्वारा उन लोगों के लिए बनाये गये हैं जो दिव्यलोक में भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करने के इच्छुक हैं। महात्माजन इन विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करते हैं। फलतः उनके लिए वाञ्छित फल की प्राप्ति निश्चित रहती है।

जैसा कि इसी अध्याय के द्वितीय श्लोक में कहा गया है, यह भक्ति न केवल सरल है अपितु, इसे सुखपूर्वक किया जा सकता है। इसके लिए कठिन तपस्या करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्य सक्षम गुरु के निर्देशन में इस जीवन को गृहस्थ, संन्यासी या ब्रह्मचारी रहते हुए भक्ति में बिता सकता है। वह संसार में किसी भी अवस्था में कहीं भी भगवान् की भक्ति करके वास्तव में महात्मा बन सकता है।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्॥ १५॥

ज्ञान-यज्ञेन—ज्ञान के अनुशीलन द्वारा; **च**—भी; **अपि**—निश्चय ही; **अन्ये**—अन्य लोग; **यजन्तः**—यज्ञ करते हुए; **माम्**—मुझको; **उपासते**—पूजते हैं; **एकत्वेन**—एकान्त भाव से; **पृथक्त्वेन**—द्वैतभाव से; **बहुधा**—अनेक प्रकार से; **विश्वतः मुखम्**—विश्व रूप में।

अन्य लोग जो ज्ञान के अनुशीलन द्वारा यज्ञ में लगे रहते हैं, वे भगवान् की पूजा उनके अद्वय रूप में, विविध रूपों में तथा विश्व रूप में करते हैं।

तात्पर्य : यह श्लोक पिछले श्लोकों का सारांश है। भगवान् अर्जुन को बताते हैं कि जो विशुद्ध कृष्णभावनामृत में लगे रहते हैं और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को नहीं जानते, वे महात्मा कहलाते हैं। तो भी कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो वास्तव में महात्मा पद को प्राप्त नहीं होते, किन्तु वे भी विभिन्न प्रकारों से कृष्ण की पूजा करते हैं। इनमें से कुछ का वर्णन आर्त, अर्थार्थी, ज्ञानी तथा जिज्ञासु के रूप में किया जा चुका है। किन्तु फिर भी कुछ ऐसे भी लोग होते हैं जो इनसे भी निम्न होते हैं। इन्हें तीन कोटियों में रखा जाता है—१) परमेश्वर तथा अपने को एक मानकर पूजा करने वाले, २) परमेश्वर के किसी मनोकल्पित रूप की पूजा करने वाले तथा ३) भगवान् के विश्व रूप की पूजा करने वाले। इनमें से सबसे अधम वे हैं जो अपने आपको अद्वैतवादी मानकर अपनी पूजा परमेश्वर के रूप में करते हैं और इन्हीं का प्राधान्य भी है। ऐसे लोग अपने को परमेश्वर मानते हैं और इस मानसिकता के कारण वे अपनी पूजा आप करते हैं। यह भी एक प्रकार की ईशपूजा है, क्योंकि वे समझते हैं कि वे भौतिक पदार्थ न होकर आत्मा हैं। कम से कम, ऐसा भाव तो प्रधान रहता है। सामान्यतया निर्विशेषवादी इसी प्रकार से परमेश्वर को पूजते हैं। दूसरी कोटि के लोग वे हैं जो देवताओं के उपासक हैं,

जो अपनी कल्पना से किसी भी स्वरूप को परमेश्वर का स्वरूप मान लेते हैं। तृतीय कोटि में वे लोग आते हैं जो इस ब्रह्माण्ड से परे कुछ भी नहीं सोच पाते। वे ब्रह्माण्ड को ही परम जीव या सत्ता मानकर उसकी उपासना करते हैं। यह ब्रह्माण्ड भी भगवान् का एक स्वरूप है।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥

अहम्—मैं; **क्रतुः**—वैदिक अनुष्ठान, कर्मकाण्ड; **अहम्**—मैं; **यज्ञः**—स्मार्त यज्ञ; **स्वधा**—तर्पण; **अहम्**—मैं; **अहम्**—मैं; **औषधम्**—जड़ीबूटी; **मन्त्रः**—दिव्य ध्वनि; **अहम्**—मैं; **अहम्**—मैं; **एव**—निश्चय ही; **आज्यम्**—घृत; **अहम्**—मैं; **अग्निः**—अग्नि; **अहम्**—मैं; **हुतम्**—आहुति, भेंट।

किन्तु मैं ही कर्मकाण्ड, मैं ही यज्ञ, पितरों को दिया जाने वाला तर्पण, औषधि, दिव्य ध्वनि (मन्त्र), घी, अग्नि तथा आहुति हूँ।

तात्पर्य : *ज्योतिष्टोम* नामक वैदिक यज्ञ भी कृष्ण है। *स्मृति* में वर्णित महायज्ञ भी वही हैं। पितृलोक को अर्पित तर्पण या पितृलोक को प्रसन्न करने के लिए किया गया यज्ञ, जिसे घृत रूप में एक प्रकार की औषधि माना जाता है, वह भी कृष्ण ही है। इस सम्बन्ध में जिन मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है, वे भी कृष्ण हैं। यज्ञों में आहुति के लिए प्रयुक्त होने वाली दुग्ध से बनी अनेक वस्तुएँ भी कृष्ण हैं। अग्नि भी कृष्ण है, क्योंकि यह अग्नि पाँच तत्त्वों में से एक है, अतः वह कृष्ण की भिन्ना शक्ति कही जाती है। दूसरे शब्दों में, वेदों के कर्मकाण्ड भाग में प्रतिपादित वैदिक यज्ञ भी पूर्णरूप से कृष्ण हैं। अथवा यह कह सकते हैं कि जो लोग कृष्ण की भक्ति में लगे हुए हैं उनके लिए यह समझना चाहिए कि उन्होंने सारे वेदविहित यज्ञ सम्पन्न कर लिए हैं।

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च॥ १७॥

पिता—पिता; **अहम्**—मैं; **अस्य**—इस; **जगतः**—ब्रह्माण्ड का; **माता**—माता; **धाता**—आश्रयदाता; **पितामहः**—बाबा; **वेद्यम्**—जानने योग्य; **पवित्रम्**—शुद्ध करने वाला; **ॐकारः**—ॐ अक्षर; **ऋक्**—ऋग्वेद; **साम**—सामवेद; **यजुः**—यजुर्वेद; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा।

मैं इस ब्रह्माण्ड का पिता, माता, आश्रय तथा पितामह हूँ। मैं ज्ञेय (जानने योग्य), शुद्धिकर्ता तथा ओंकार हूँ। मैं ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद भी हूँ।

तात्पर्य : सारे चराचर विराट जगत की अभिव्यक्ति कृष्ण की शक्ति के विभिन्न कार्यकलापों से होती है। इस भौतिक जगत् में हम विभिन्न जीवों के साथ तरह-तरह के सम्बन्ध स्थापित करते हैं, जो कृष्ण की शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं। प्रकृति की सृष्टि में उनमें से कुछ हमारे माता, पिता के रूप में उत्पन्न होते हैं किन्तु वे कृष्ण के अंश ही हैं। इस दृष्टि से ये जीव जो हमारे माता, पिता आदि प्रतीत होते हैं वे कृष्ण के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। इस श्लोक में आए *धाता* शब्द का अर्थ स्रष्टा है। न केवल हमारे माता पिता कृष्ण के अंश रूप हैं, अपितु इनके स्रष्टा दादी तथा दादा कृष्ण हैं। वस्तुतः कोई

भी जीव कृष्ण का अंश होने के कारण कृष्ण है। अतः सारे वेदों के लक्ष्य कृष्ण ही हैं। हम वेदों से जो भी जानना चाहते हैं वह कृष्ण को जानने की दिशा में होता है। जिस विषय से हमारी स्वाभाविक स्थिति शुद्ध होती है, वह कृष्ण है। इसी प्रकार जो जीव वैदिक नियमों को जानने के लिए जिज्ञासु रहता है, वह भी कृष्ण का अंश, अतः कृष्ण भी है। समस्त वैदिक मन्त्रों में ॐ शब्द, जिसे प्रणव कहा जाता है, एक दिव्य ध्वनि-कम्पन है और यह कृष्ण भी है। चूँकि चारों वेदों—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद में प्रणव या ओंकार प्रधान है, अतः इसे कृष्ण समझना चाहिए।

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥१८॥

गतिः—लक्ष्य; **भर्ता**—पालक; **प्रभुः**—भगवान्; **साक्षी**—गवाह; **निवासः**—धाम; **शरणम्**—शरण; **सुहृत्**—घनिष्ठ मित्र; **प्रभवः**—सृष्टि; **प्रलयः**—संहार; **स्थानम्**—भूमि, स्थिति; **निधानम्**—आश्रय, विश्राम स्थल; **बीजम्**—बीज, कारण; **अव्ययम्**—अविनाशी।

मैं ही लक्ष्य, पालनकर्ता, स्वामी, साक्षी, धाम, शरणस्थली तथा अत्यन्त प्रिय मित्र हूँ। मैं सृष्टि तथा प्रलय, सबका आधार, आश्रय तथा अविनाशी बीज भी हूँ।

तात्पर्य : *गति* का अर्थ है गन्तव्य या लक्ष्य, जहाँ हम जाना चाहते हैं। लेकिन चरमलक्ष्य तो कृष्ण हैं, यद्यपि लोग इसे जानते नहीं। जो कृष्ण को नहीं जानता वह पथभ्रष्ट हो जाता है और उसकी तथाकथित प्रगति या तो आंशिक होती है या फिर भ्रमपूर्ण। ऐसे अनेक लोग हैं जो देवताओं को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं और तदनुसार कठोर नियमों का पालन करते हुए चन्द्रलोक, सूर्यलोक, इन्द्रलोक, महर्लोक जैसे विभिन्न लोकों को प्राप्त होते हैं। किन्तु ये सारे लोक कृष्ण की ही सृष्टि होने के कारण कृष्ण हैं और नहीं भी हैं। ऐसे लोक भी कृष्ण की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ होने के कारण कृष्ण हैं, किन्तु वस्तुतः वे कृष्ण की अनुभूति की दिशा में सोपान का कार्य करते हैं। कृष्ण की विभिन्न शक्तियों तक पहुँचने का अर्थ है अप्रत्यक्षतः कृष्ण तक पहुँचना। अतः मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण तक सीधे पहुँचे, क्योंकि इससे समय तथा शक्ति की बचत होगी। उदाहरणार्थ, यदि किसी ऊँची इमारत की चोटी तक एलीवेटर (लिफ्ट) के द्वारा पहुँचने की सुविधा हो तो फिर एक-एक सीढ़ी करके ऊपर क्यों चढ़ा जाये? सब कुछ कृष्ण की शक्ति पर आश्रित है, अतः कृष्ण की शरण लिये बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता। कृष्ण परम शासक हैं, क्योंकि सब कुछ उन्हीं का है और उन्हीं की शक्ति पर आश्रित है। प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित होने के कारण कृष्ण परम साक्षी हैं। हमारा घर, देश या लोक जहाँ पर हम रह रहें हैं, सब कुछ कृष्ण का है। शरण के लिए कृष्ण परम गन्तव्य हैं, अतः मनुष्य को चाहिए कि अपनी रक्षा या अपने कष्टों के विनाश के लिए कृष्ण की शरण ग्रहण करे। हम चाहे जहाँ भी शरण लें हमें जानना चाहिए कि हमारा आश्रय कोई जीवित शक्ति होनी चाहिए। कृष्ण परम जीव हैं। चूँकि कृष्ण हमारी उत्पत्ति के कारण या हमारे परमपिता हैं, अतः उनसे बढ़कर न तो कोई मित्र हो सकता है, न शुभचिन्तक। कृष्ण सृष्टि के आदि उद्गम और प्रलय के पश्चात् परम विश्रामस्थल हैं।

अतः कृष्ण सभी कारणों के शाश्वत कारण हैं।

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥१९॥

तपामि—ताप देता हूँ, गर्मी पहुँचाता हूँ; **अहम्**—मैं; **अहम्**—मैं; **वर्षम्**—वर्षा; **निगृह्णामि**—रोके रहता हूँ; **उत्सृजामि**—भेजता हूँ; **च**—तथा; **अमृतम्**—अमरत्व; **च**—तथा; **एव**—निश्चय ही; **मृत्युः**—मृत्यु; **च**—तथा; **सत्**—आत्मा; **असत्**—पदार्थ; **च**—तथा; **अहम्**—मैं; **अर्जुन**—हे अर्जुन।

हे अर्जुन! मैं ही ताप प्रदान करता हूँ और वर्षा को रोकता तथा लाता हूँ। मैं अमरत्व हूँ और साक्षात् मृत्यु भी हूँ। आत्मा तथा पदार्थ (सत् तथा असत्) दोनों मुझ ही में हैं।

तात्पर्य : कृष्ण अपनी विभिन्न शक्तियों से विद्युत तथा सूर्य के द्वारा ताप तथा प्रकाश बिखेरते हैं। ग्रीष्म ऋतु में कृष्ण ही आकाश से वर्षा नहीं होने देते और वर्षा ऋतु में वे ही अनवरत वर्षा की झड़ी लगाते हैं। जो शक्ति हमें जीवन प्रदान करती है वह कृष्ण है और अंत में मृत्यु रूप में हमें कृष्ण मिलते हैं। कृष्ण की इन विभिन्न शक्तियों का विश्लेषण करने पर यह निश्चित हो जाता है कि कृष्ण के लिए पदार्थ तथा आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, अथवा दूसरे शब्दों में, वे पदार्थ तथा आत्मा दोनों हैं। अतः कृष्णभावनामृत की उच्च अवस्था में ऐसा भेद नहीं माना जाता। मनुष्य हर वस्तु में कृष्ण के ही दर्शन करता है।

चूँकि कृष्ण पदार्थ तथा आत्मा दोनों हैं, अतः समस्त भौतिक प्राकट्यों से युक्त यह विराट विश्व रूप भी कृष्ण है एवं वृन्दावन में दो भुजावाले वंशी वादन करते श्यामसुन्दर रूप में उनकी लीलाएँ उनके भगवान् रूप की होती हैं।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा
यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक-
मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥२०॥

त्रै-विद्याः—तीन वेदों के ज्ञाता; **माम्**—मुझको; **सोम-पाः**—सोम रसपान करने वाले; **पूत**—पवित्र; **पापाः**—पापों का; **यज्ञैः**—यज्ञों के साथ; **इष्ट्वा**—पूजा करके; **स्वः-गतिम्**—स्वर्ग की प्राप्ति के लिए; **प्रार्थयन्ते**—प्रार्थना करते हैं; **ते**—वे; **पुण्यम्**—पवित्र; **आसाद्य**—प्राप्त करके; **सुर-इन्द्र**—इन्द्र के; **लोकम्**—लोक को; **अश्नन्ति**—भोग करते हैं; **दिव्यान्**—दैवी; **दिवि**—स्वर्ग में; **देव-भोगान्**—देवताओं के आनन्द को।

जो वेदों का अध्ययन करते तथा सोमरस का पान करते हैं, वे स्वर्ग प्राप्ति की गवेषणा करते हुए अप्रत्यक्ष रूप से मेरी पूजा करते हैं। वे पापकर्मों से शुद्ध होकर, इन्द्र के पवित्र स्वर्गिक धाम में जन्म लेते हैं, जहाँ वे देवताओं का सा आनन्द भोगते हैं।

तात्पर्य : *त्रैविद्याः* शब्द तीन वेदों—साम, यजुः तथा ऋग्वेद—का सूचक है। जिस ब्राह्मण ने इन तीनों वेदों का अध्ययन किया है वह त्रिवेदी कहलाता है। जो इन तीनों वेदों से प्राप्त ज्ञान के प्रति आसक्त रहता है, उसका समाज में आदर होता है। दुर्भाग्यवश वेदों के ऐसे अनेक पण्डित हैं जो उनके अध्ययन के चरमलक्ष्य को नहीं समझते। इसीलिए कृष्ण अपने को त्रिवेदियों के लिए परमलक्ष्य घोषित करते हैं। वास्तविक त्रिवेदी भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करते हैं और भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उनकी शुद्धभक्ति करते हैं। भक्ति का सूत्रपात *हरे कृष्ण* मन्त्र के कीर्तन तथा साथ-साथ कृष्ण को वास्तव में समझने के प्रयास से होता है। दुर्भाग्यवश जो लोग वेदों के नाममात्र के छात्र हैं वे इन्द्र तथा चन्द्र जैसे विभिन्न देवों को आहुति प्रदान करने में रुचि लेते हैं। ऐसे प्रयत्न से विभिन्न देवों के उपासक निश्चित रूप से प्रकृति के निम्न गुणों के कल्मष से शुद्ध हो जाते हैं। फलस्वरूप वे उच्चतर लोकों, यथा महर्लोक, जनलोक, तपलोक आदि को प्राप्त होते हैं। एक बार इन उच्च लोकों में पहुँच कर वहाँ इस लोक की तुलना में लाखों गुना अच्छी तरह इन्द्रियों की तुष्टि की जा सकती है।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना
गतागतं कामकामा लभन्ते॥ २१॥

ते—वे; **तम्**—उसको; **भुक्त्वा**—भोग करके; **स्वर्ग-लोकम्**—स्वर्ग को; **विशालम्**—विस्तृत; **क्षीणे**—समाप्त हो जाने पर; **पुण्ये**—पुण्यकर्मों के फल; **मर्त्य-लोकम्**—मृत्युलोक में; **विशन्ति**—नीचे गिरते हैं; **एवम्**—इस प्रकार; **त्रयी**—तीनों वेदों के; **धर्मम्**—सिद्धान्तों के; **अनुप्रपन्नाः**—पालन करने वाले; **गत-आगतम्**—मृत्यु तथा जन्म को; **काम-कामाः**—इन्द्रियसुख चाहने वाले; **लभन्ते**—प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार जब वे (उपासक) विस्तृत स्वर्गिक इन्द्रियसुख को भोग लेते हैं और उनके पुण्यकर्मों के फल क्षीण हो जाते हैं तो वे इस मृत्युलोक में पुनः लौट आते हैं। इस प्रकार जो तीनों वेदों के सिद्धान्तों में दृढ रहकर इन्द्रियसुख की गवेषणा करते हैं, उन्हें जन्म-मृत्यु का चक्र ही मिल पाता है।

तात्पर्य : जो स्वर्गलोक प्राप्त करता है उसे दीर्घजीवन तथा विषयसुख की श्रेष्ठ सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, तो भी उसे वहाँ सदा नहीं रहने दिया जाता। पुण्यकर्मों के फलों के क्षीण होने पर उसे पुनः इस पृथ्वी पर भेज दिया जाता है। जैसा कि *वेदान्तसूत्र* में इंगित किया गया है, (*जन्माद्यस्य यतः*) जिसने पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं किया या जो समस्त कारणों के कारण कृष्ण को नहीं समझता, वह जीवन के चरमलक्ष्य को प्राप्त नहीं कर पाता। वह बारम्बार स्वर्ग को तथा फिर पृथ्वीलोक को जाता-आता रहता है, मानो वह किसी चक्र पर स्थित हो, जो कभी ऊपर जाता है और कभी नीचे आता है। सारांश यह है कि वह वैकुण्ठलोक न जाकर स्वर्ग तथा मृत्युलोक के बीच जन्म-मृत्यु चक्र में घूमता रहता है। अच्छा तो यह होगा कि सच्चिदानन्दमय जीवन भोगने के लिए वैकुण्ठलोक की प्राप्ति

की जाये, क्योंकि वहाँ से इस दुखमय संसार में लौटना नहीं होता।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ २२॥

अनन्याः–जिसका कोई अन्य लक्ष्य न हो, अनन्य भाव से; **चिन्तयन्तः**–चिन्तन करते हुए; **माम्**–मुझको; **ये**–जो; **जनाः**–व्यक्ति; **पर्युपासते**–ठीक से पूजते हैं; **तेषाम्**–उन; **नित्य**–सदा; **अभियुक्तानाम्**–भक्ति में लीन मनुष्यों की; **योग**–आवश्यकताएँ; **क्षेमम्**–सुरक्षा, आश्रय; **वहामि**–वहन करता हूँ; **अहम्**–मैं।

किन्तु जो लोग अनन्यभाव से मेरे दिव्यस्वरूप का ध्यान करते हुए निरन्तर मेरी पूजा करते हैं, उनकी जो आवश्यकताएँ होती हैं, उन्हें मैं पूरा करता हूँ और जो कुछ उनके पास है, उसकी रक्षा करता हूँ।

तात्पर्य : जो एक क्षण भी कृष्णभावनामृत के बिना नहीं रह सकता, वह चौबीस घण्टे कृष्ण का चिन्तन करता है और श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, वन्दन, अर्चन, दास्य, सख्यभाव तथा आत्मनिवेदन के द्वारा भगवान् के चरणकमलों की सेवा में रत रहता है। ऐसे कार्य शुभ होते हैं और आध्यात्मिक शक्ति से पूर्ण होते हैं, जिससे भक्त को आत्म-साक्षात्कार होता है और उसकी यही एकमात्र कामना रहती है कि वह भगवान् का सान्निध्य प्राप्त करे। ऐसा भक्त निश्चित रूप से बिना किसी कठिनाई के भगवान् के पास पहुँचता है। यह *योग* कहलाता है। ऐसा भक्त भगवत्कृपा से इस संसार में पुनः नहीं आता। *क्षेम* का अर्थ है भगवान् द्वारा कृपामय संरक्षण। भगवान् योग द्वारा पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होने में सहायक बनते हैं और जब भक्त पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो जाता है तो भगवान् उसे दुखमय बद्धजीवन में फिर से गिरने से उसकी रक्षा करते हैं।

येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्॥ २३॥

ये–जो; **अपि**–भी; **अन्य**–दूसरे; **देवता**–देवताओं के; **भक्ताः**–भक्तगण; **यजन्ते**–पूजते हैं; **श्रद्धया अन्विताः**–श्रद्धापूर्वक; **ते**–वे; **अपि**–भी; **माम्**–मुझको; **एव**–केवल; **कौन्तेय**–हे कुन्तीपुत्र; **यजन्ति**–पूजा करते हैं; **अविधि-पूर्वकम्**–त्रुटिपूर्ण ढंग से।

हे कुन्तीपुत्र! जो लोग अन्य देवताओं के भक्त हैं और उनकी श्रद्धापूर्वक पूजा करते हैं, वास्तव में वे भी मेरी ही पूजा करते हैं, किन्तु वे यह त्रुटिपूर्ण ढंग से करते हैं।

तात्पर्य : श्रीकृष्ण का कथन है "जो लोग अन्य देवताओं की पूजा में लगे होते हैं, वे अधिक बुद्धिमान नहीं होते, यद्यपि ऐसी पूजा अप्रत्यक्षतः मेरी ही पूजा है।" उदाहरणार्थ, जब कोई मनुष्य वृक्ष की जड़ों में पानी न डालकर उसकी पत्तियों तथा टहनियों में डालता है, तो वह ऐसा इसलिए करता है क्योंकि उसे पर्याप्त ज्ञान नहीं होता या वह नियमों का ठीक से पालन नहीं करता। इसी प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों की सेवा करने का अर्थ है आमाशय में भोजन की पूर्ति करना। इसी तरह विभिन्न देवता भगवान् की सरकार के विभिन्न अधिकारी तथा निर्देशक हैं। मनुष्य को अधिकारियों या निर्देशकों द्वारा नहीं

अपितु सरकार द्वारा निर्मित नियमों का पालन करना होता है। इसी प्रकार हर एक को परमेश्वर की ही पूजा करनी होती है। इससे भगवान् के सारे अधिकारी तथा निर्देशक स्वतः प्रसन्न होंगे। अधिकारी तथा निर्देशक तो सरकार के प्रतिनिधि होते हैं, अतः इन्हें घूस देना अवैध है। यहाँ पर इसी को *अविधिपूर्वकम्* कहा गया है। दूसरे शब्दों में कृष्ण अन्य देवताओं की व्यर्थ पूजा का समर्थन नहीं करते।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते॥ २४॥

अहम्—मैं; **हि**—निश्चित रूप से; **सर्व**—समस्त; **यज्ञानाम्**—यज्ञों का; **भोक्ता**—भोग करने वाला; **च**—तथा; **प्रभुः**—स्वामी; **एव**—भी; **च**—तथा; **न**—नहीं; **तु**—लेकिन; **माम्**—मुझको; **अभिजानन्ति**—जानते हैं; **तत्त्वेन**—वास्तव में; **अतः**—अतएव; **च्यवन्ति**—नीचे गिरते हैं; **ते**—वे।

मैं ही समस्त यज्ञों का एकमात्र भोक्ता तथा स्वामी हूँ। अतः जो लोग मेरे वास्तविक दिव्य स्वभाव को नहीं पहचान पाते, वे नीचे गिर जाते हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि वैदिक साहित्य में अनेक प्रकार के यज्ञ-अनुष्ठानों का आदेश है, किन्तु वस्तुतः वे सब भगवान् को ही प्रसन्न करने के निमित्त हैं। यज्ञ का अर्थ है विष्णु। *भगवद्गीता* के तृतीय अध्याय में यह स्पष्ट कथन है कि मनुष्य को चाहिए कि यज्ञ या विष्णु को प्रसन्न करने के लिए ही कर्म करे। मानवीय सभ्यता का समग्ररूप वर्णाश्रम धर्म है और यह विशेष रूप से विष्णु को प्रसन्न करने के लिए है। इसीलिए इस श्लोक में कृष्ण कहते हैं, "मैं समस्त यज्ञों का भोक्ता हूँ, क्योंकि मैं परम प्रभु हूँ।" किन्तु अल्पज्ञ इस तथ्य से अवगत न होने के कारण क्षणिक लाभ के लिए देवताओं को पूजते हैं। अतः वे इस संसार में आ गिरते हैं और उन्हें जीवन का लक्ष्य प्राप्त नहीं हो पाता। यदि किसी को अपनी भौतिक इच्छा की पूर्ति करनी हो तो अच्छा यही होगा कि वह इसके लिए परमेश्वर से प्रार्थना करे (यद्यपि यह शुद्धभक्ति नहीं है) और इस प्रकार उसे वांछित फल प्राप्त हो सकेगा।

यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्॥ २५॥

यान्ति—जाते हैं; **देव-व्रताः**—देवताओं के उपासक; **देवान्**—देवताओं के पास; **पितॄन्**—पितरों के पास; **यान्ति**—जाते हैं; **पितृ-व्रताः**—पितरों के उपासक; **भूतानि**—भूत-प्रेतों के पास; **यान्ति**—जाते हैं; **भूत-इज्याः**—भूत-प्रेतों के उपासक; **यान्ति**—जाते हैं; **मत्**—मेरे; **याजिनः**—भक्तगण; **अपि**—लेकिन; **माम्**—मेरे पास।

जो देवताओं की पूजा करते हैं, वे देवताओं के बीच जन्म लेंगे, जो पितरों को पूजते हैं, वे पितरों के पास जाते हैं, जो भूत-प्रेतों की उपासना करते हैं, वे उन्हीं के बीच जन्म लेते हैं और जो मेरी पूजा करते हैं वे मेरे साथ निवास करते हैं।

तात्पर्य : यदि कोई चन्द्रमा, सूर्य या अन्य लोक को जाना चाहता है तो वह अपने गन्तव्य

को बताये गये विशिष्ट वैदिक नियमों का पालन करके प्राप्त कर सकता है। इनका विशद वर्णन वेदों के कर्मकाण्ड अंश *दर्शपौर्णमासी* में हुआ है, जिसमें विभिन्न लोकों में स्थित देवताओं के लिए विशिष्ट पूजा का विधान है। इसी प्रकार विशिष्ट यज्ञ करके पितृलोक प्राप्त किया जा सकता है। इसी प्रकार मनुष्य भूत-प्रेत लोकों में जाकर यक्ष, रक्ष या पिशाच बन सकता है। पिशाच पूजा को काला जादू कहते हैं। अनेक लोग इस काले जादू का अभ्यास करते हैं और सोचते हैं कि यह अध्यात्म है, किन्तु ऐसे कार्यकलाप नितान्त भौतिकतावादी हैं। इसी तरह शुद्धभक्त केवल भगवान् की पूजा करके निस्सन्देह वैकुण्ठलोक तथा कृष्णलोक की प्राप्ति करता है। इस श्लोक के माध्यम से यह समझना सुगम है कि जब देवताओं की पूजा करके कोई स्वर्ग प्राप्त कर सकता है, तो फिर शुद्धभक्त कृष्ण या विष्णु के लोक क्यों नहीं प्राप्त कर सकता? दुर्भाग्यवश अनेक लोगों को कृष्ण तथा विष्णु के दिव्यलोकों की सूचना नहीं है, अतः न जानने के कारण वे नीचे गिर जाते हैं। यहाँ तक कि निर्विशेषवादी भी ब्रह्मज्योति से नीचे गिरते हैं। इसीलिए कृष्णभावनामृत आन्दोलन इस दिव्य सूचना को समूचे मानव समाज में वितरित करता है कि केवल *हरे कृष्ण* मन्त्र के जाप से ही मनुष्य सिद्ध हो सकता है और भगवद्धाम को वापस जा सकता है।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।। २६ ।।

पत्रम्—पत्ती; **पुष्पम्**—फूल; **फलम्**—फल; **तोयम्**—जल; **यः**—जो कोई; **मे**—मुझको; **भक्त्या**—भक्तिपूर्वक; **प्रयच्छति**—भेंट करता है; **तत्**—वह; **अहम्**—मैं; **भक्ति-उपहृतम्**—भक्तिभाव से अर्पित; **अश्नामि**—स्वीकार करता हूँ; **प्रयत-आत्मनः**—शुद्धचेतना वाले से।

यदि कोई प्रेम तथा भक्ति के साथ मुझे पत्र, पुष्प, फल या जल प्रदान करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ।

तात्पर्य : नित्य सुख के लिए स्थायी, आनन्दमय धाम प्राप्त करने हेतु बुद्धिमान व्यक्ति के लिए यह अनिवार्य है कि वह कृष्णभावनाभावित होकर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में तत्पर रहे। ऐसा आश्चर्यमय फल प्राप्त करने की विधि इतनी सरल है कि निर्धन से निर्धन व्यक्ति को योग्यता का विचार किये बिना इसे पाने का प्रयास करना चाहिए। इसके लिए एकमात्र योग्यता इतनी ही है कि वह भगवान् का शुद्धभक्त हो। इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि कोई क्या है और कहाँ स्थित है। यह विधि इतनी सरल है कि यदि प्रेमपूर्वक एक पत्ती, थोड़ा सा जल या फल ही भगवान् को अर्पित किया जाता है तो भगवान् उसे सहर्ष स्वीकार करते हैं। अतः किसी को भी कृष्णभावनामृत से रोका नहीं जा सकता, क्योंकि यह सरल है और व्यापक है। ऐसा कौन मूर्ख होगा जो इस सरल विधि से कृष्णभावनाभावित नहीं होना चाहेगा और सच्चिदानन्दमय जीवन की परम सिद्धि नहीं चाहेगा? कृष्ण को केवल प्रेमाभक्ति चाहिए और कुछ भी नहीं। कृष्ण तो अपने शुद्धभक्त से एक छोटा सा फूल तक ग्रहण करते हैं। किन्तु अभक्त से वे कोई भेंट नहीं चाहते। उन्हें किसी से कुछ भी नहीं चाहिए, क्योंकि वे आत्मतुष्ट हैं, तो भी

वे अपने भक्त की भेंट प्रेम तथा स्नेह के विनिमय में स्वीकार करते हैं। कृष्णभावनामृत विकसित करना जीवन का चरमलक्ष्य है। इस श्लोक में *भक्ति* शब्द का उल्लेख दो बार यह घोषित करने के लिए हुआ है कि भक्ति ही कृष्ण के पास पहुँचने का एकमात्र साधन है। किसी अन्य शर्त से, यथा ब्राह्मण, विद्वान्, धनी या महान विचारक होने से, कृष्ण किसी प्रकार की भेंट लेने को तैयार नहीं होते। भक्ति ही मूलसिद्धान्त है, जिसके बिना वे किसी से कुछ भी लेने के लिए प्रेरित नहीं किये जा सकते। भक्ति कभी हैतुकी नहीं होती। यह शाश्वत विधि है। यह परमब्रह्म की सेवा में प्रत्यक्ष कर्म है।

यह बतला कर कि वे ही एकमात्र भोक्ता, आदि स्वामी और समस्त यज्ञ-भेंटों के वास्तविक लक्ष्य हैं, अब भगवान् कृष्ण यह बताते हैं कि वे किस प्रकार की भेंट पसंद करते हैं। यदि कोई शुद्ध होने तथा जीवन के लक्ष्य तक पहुँचने के उद्देश्य से भगवद्भक्ति करना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह पता करे कि भगवान् उससे क्या चाहते हैं। कृष्ण से प्रेम करने वाला उन्हें उनकी इच्छित वस्तु देगा और कोई ऐसी वस्तु भेंट नहीं करेगा जिसकी उन्हें इच्छा न हो, या उन्होंने न माँगी हो। इस प्रकार कृष्ण को मांस, मछली तथा अण्डे भेंट नहीं किये जाने चाहिए। यदि उन्हें इन वस्तुओं की इच्छा होती तो वे इनका उल्लेख करते। उल्टे वे स्पष्ट आदेश देते हैं कि उन्हें पत्र, पुष्प, जल तथा फल अर्पित किये जायें और वे इन्हें स्वीकार करेंगे। अतः हमें यह समझना चाहिए कि वे मांस, मछली तथा अण्डे स्वीकार नहीं करेंगे। शाक, अन्न, फल, दूध तथा जल—ये ही मनुष्यों के उचित भोजन हैं और भगवान् कृष्ण ने भी इन्हीं का आदेश दिया है। इनके अतिरिक्त हम जो भी खाते हों, वह उन्हें अर्पित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वे उसे ग्रहण नहीं करेंगे। यदि हम ऐसा भोजन उन्हें अर्पित करेंगे तो हम प्रेमाभक्ति नहीं कर सकेंगे।

तृतीय अध्याय के तेरहवें श्लोक में श्रीकृष्ण बताते हैं कि यज्ञ का उच्छिष्ट ही शुद्ध होता है, अतः जो लोग जीवन में प्रगति करने तथा भवबन्धन से मुक्त होने के इच्छुक हैं, उन्हें इसी को खाना चाहिए। उसी श्लोक में वे यह भी बताते हैं कि जो लोग अपने भोजन को अर्पित नहीं करते वे पाप भक्षण करते हैं। दूसरे शब्दों में, उनका प्रत्येक कौर इस संसार की जटिलताओं में उन्हें बाँधने वाला है। अच्छा सरल शाकाहारी भोजन बनाकर उसे भगवान् कृष्ण के चित्र या अर्चाविग्रह के समक्ष अर्पित करके तथा नतमस्तक होकर इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करने की प्रार्थना करने से मनुष्य अपने जीवन में निरन्तर प्रगति करता है, उसका शरीर शुद्ध होता है और मस्तिष्क के श्रेष्ठ तन्तु उत्पन्न होते हैं, जिससे शुद्ध चिन्तन हो पाता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि यह समर्पण अत्यन्त प्रेमपूर्वक करना चाहिए। कृष्ण को किसी तरह के भोजन की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उनके पास सब कुछ है, किन्तु यदि कोई उन्हें इस प्रकार प्रसन्न करना चाहता है, तो वे इस भेंट को स्वीकार करते हैं। भोजन बनाने, सेवा करने तथा भेंट करने में जो सबसे मुख्य बात रहती है, वह है कृष्ण के प्रेमवश कर्म करना।

वे मायावादी चिन्तक *भगवद्गीता* के इस श्लोक का अर्थ नहीं समझ सकेंगे, जो यह मानकर चलते हैं कि परब्रह्म इन्द्रियरहित है। उनके लिए यह या तो रूपक है या *भगवद्गीता* के उद्घोषक कृष्ण के मानवीय चरित्र का प्रमाण है। किन्तु वास्तविकता तो

यह है कि भगवान् कृष्ण इन्द्रियों से युक्त हैं और यह कहा गया है कि उनकी इन्द्रियाँ परस्पर परिवर्तनशील हैं। दूसरे शब्दों में, एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय का कार्य कर सकती है। कृष्ण को परम ब्रह्म कहने का आशय यही है। इन्द्रियरहित होने पर उन्हें समस्त ऐश्वर्यों से युक्त नहीं माना जा सकता। सातवें अध्याय में कृष्ण ने बतलाया है कि वे प्रकृति के गर्भ में जीवों को स्थापित करते हैं। इसे वे प्रकृति पर दृष्टिपात करके करते हैं। अतः यहाँ पर भी भक्तों द्वारा भोजन अर्पित करते हुए भक्तों का प्रेमपूर्ण शब्द सुनना कृष्ण के द्वारा भोजन करने तथा उसके स्वाद लेने के ही समरूप है। इस बात पर इसलिए बल देना होगा क्योंकि अपनी सर्वोच्च स्थिति के कारण उनका सुनना उनके भोजन करने तथा स्वाद ग्रहण करने के ही समरूप है। केवल भक्त ही बिना तर्क के यह समझ सकता है कि परब्रह्म भोजन कर सकते हैं और उसका स्वाद ले सकते हैं।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

यत्—जो कुछ; **करोषि**—करते हो; **यत्**—जो भी; **अश्नासि**—खाते हो; **यत्**—जो कुछ; **जुहोषि**—अर्पित करते हो; **ददासि**—दान देते हो; **यत्**—जो; **यत्**—जो भी; **तपस्यसि**—तप करते हो; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **तत्**—वह; **कुरुष्व**—करो; **मत्**—मुझको; **अर्पणम्**—भेंट रूप में।

हे कुन्तीपुत्र! तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो कुछ अर्पित करते हो या दान देते हो और जो भी तपस्या करते हो, उसे मुझे अर्पित करते हुए करो।

तात्पर्य : इस प्रकार यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि अपने जीवन को इस प्रकार ढाले कि वह किसी भी दशा में कृष्ण को न भूल सके। प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करना पड़ता है और कृष्ण यहाँ पर आदेश देते हैं कि हर व्यक्ति उनके लिए ही कर्म करे। प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहने के लिए कुछ न कुछ खाना पड़ता है अतः उसे चाहिए कि कृष्ण को अर्पित भोजन के उच्छिष्ट को ग्रहण करे। प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ धार्मिक अनुष्ठान करने होते हैं, अतः कृष्ण की संस्तुति है, "इसे मेरे हेतु करो"। यही अर्चन है। प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ दान देता है, अतः कृष्ण कहते हैं, "यह मुझे दो" जिसका अर्थ यह है कि अधिक धन का उपयोग कृष्णभावनामृत आन्दोलन की उन्नति के लिए करो। आजकल लोग ध्यान विधि के प्रति विशेष रुचि दिखाते हैं, यद्यपि इस युग के लिए यह व्यावहारिक नहीं है, किन्तु यदि कोई चौबीस घण्टे *हरे कृष्ण* का जप अपनी माला में करे तो वह निश्चित रूप से महानतम ध्यानी तथा योगी है, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* के छठे अध्याय में की गई है।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥ २८॥

शुभ—शुभ; **अशुभ**—अशुभ; **फलैः**—फलों के द्वारा; **एवम्**—इस प्रकार; **मोक्ष्यसे**—मुक्त हो जाओगे; **कर्म**—कर्म के; **बन्धनैः**—बन्धन से; **संन्यास**—संन्यास के; **योग**—योग से; **युक्त-आत्मा**—मन को स्थिर करके; **विमुक्तः**—मुक्त हुआ; **माम्**—मुझे; **उपैष्यसि**—प्राप्त होगे।

इस तरह तुम कर्म के बन्धन तथा इसके शुभाशुभ फलों से मुक्त हो सकोगे। इस संन्यासयोग में अपने चित्त को स्थिर करके तुम मुक्त होकर मेरे पास आ सकोगे।

तात्पर्य : गुरु के निर्देशन में कृष्णभावनामृत में रहकर कर्म करने को *युक्त* कहते हैं। पारिभाषिक शब्द *युक्त-वैराग्य* है। श्रीरूप गोस्वामी ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है (*भक्तिरसामृत सिन्धु* २.२५५)—

अनासक्तस्य विषयान्यथार्हमुपयुञ्जतः।
निर्बन्धः कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते॥

श्रीरूप गोस्वामी कहते हैं कि जब तक हम इस जगत् में हैं, तब तक हमें कर्म करना पड़ता है, हम कर्म करना बन्द नहीं कर सकते। अतः यदि कर्म करके उसके फल कृष्ण को अर्पित कर दिये जायँ तो यह *युक्तवैराग्य* कहलाता है। वस्तुतः संन्यास में स्थित होने पर ऐसे कर्मों से चित्त रूपी दर्पण स्वच्छ हो जाता है और कर्ता ज्यों-ज्यों क्रमशः आत्म-साक्षात्कार की ओर प्रगति करता जाता है, त्यों-त्यों वह परमेश्वर के प्रति पूर्णतया समर्पित होता रहता है। अतएव अन्त में वह मुक्त हो जाता है और यह मुक्ति भी विशिष्ट होती है। इस मुक्ति से वह ब्रह्मज्योति में तदाकार नहीं होता, अपितु भगवद्धाम में प्रवेश करता है। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है—*माम् उपैष्यसि*—वह मेरे पास आता है, अर्थात् मेरे धाम वापस आता है। मुक्ति की पाँच विभिन्न अवस्थाएँ हैं और यहाँ यह स्पष्ट किया गया है कि जो भक्त जीवन भर परमेश्वर के निर्देशन में रहता है, वह ऐसी अवस्था को प्राप्त हुआ रहता है, जहाँ से वह शरीर त्यागने के बाद भगवद्धाम जा सकता है और भगवान् की प्रत्यक्ष संगति में रह सकता है।

जिस व्यक्ति में अपने जीवन को भगवत्सेवा में रत रखने के अतिरिक्त अन्य कोई रुचि नहीं होती, वही वास्तविक संन्यासी है। ऐसा व्यक्ति भगवान् की परम इच्छा पर आश्रित रहते हुए अपने को उनका नित्य दास मानता है। अतः वह जो कुछ करता है, भगवान् के लाभ के लिए करता है। वह जो कुछ कर्म करता है, भगवान् की सेवा करने के लिए करता है। वह सकामकर्मों या वेदवर्णित कर्तव्यों पर ध्यान नहीं देता। सामान्य मनुष्यों के लिए वेदवर्णित कर्तव्यों को सम्पन्न करना अनिवार्य होता है। किन्तु शुद्धभक्त भगवान् की सेवा में पूर्णतया रत होकर भी कभी-कभी वेदों द्वारा अनुमोदित कर्तव्यों का विरोध करता प्रतीत होता है, जो वस्तुतः विरोध नहीं है।

अतः वैष्णव आचार्यों का कथन है कि बुद्धिमान से बुद्धिमान व्यक्ति भी शुद्धभक्त की योजनाओं तथा कार्यों को नहीं समझ सकता। ठीक शब्द हैं—*ताँर वाक्य, क्रिया, मुद्रा विज्ञेह ना बुझय* (*चैतन्यचरितामृत,* मध्य २३.३९)। इस प्रकार जो व्यक्ति भगवान् की सेवा में रत है, या जो निरन्तर योजना बनाता रहता है कि किस तरह भगवान् की सेवा की जाये, उसे ही वर्तमान में पूर्णतया मुक्त मानना चाहिए और भविष्य में उसका भगवद्धाम जाना ध्रुव है। जिस प्रकार कृष्ण आलोचना से परे हैं, उसी प्रकार वह भक्त भी सारी भौतिक आलोचना से परे हो जाता है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥ २९॥

समः–समभाव; **अहम्**–मैं; **सर्व-भूतेषु**–समस्त जीवों में; **न**–कोई नहीं; **मे**–मुझको; **द्वेष्यः**–द्वेषपूर्ण; **अस्ति**–है; **न**–न तो; **प्रियः**–प्रिय; **ये**–जो; **भजन्ति**–दिव्यसेवा करते हैं; **तु**–लेकिन; **माम्**–मुझको; **भक्त्या**–भक्ति से; **मयि**–मुझमें हैं; **ते**–वे व्यक्ति; **तेषु**–उनमें; **च**–भी; **अपि**–निश्चय ही; **अहम्**–मैं।

मैं न तो किसी से द्वेष करता हूँ, न ही किसी के साथ पक्षपात करता हूँ। मैं सबों के लिए समभाव हूँ। किन्तु जो भी भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करता है, वह मेरा मित्र है, मुझमें स्थित रहता है और मैं भी उसका मित्र हूँ।

तात्पर्य : यहाँ यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब कृष्ण का सबों के लिए समभाव है और उनका कोई विशिष्ट मित्र नहीं है तो फिर वे उन भक्तों में विशेष रुचि क्यों लेते हैं, जो उनकी दिव्यसेवा में सदैव लगे रहते हैं? किन्तु यह भेदभाव नहीं है, यह तो सहज है। इस जगत् में हो सकता है कि कोई व्यक्ति अत्यन्त उपकारी हो, किन्तु तो भी वह अपनी सन्तानों में विशेष रुचि लेता है। भगवान् का कहना है कि प्रत्येक जीव, चाहे वह जिस योनि का हो, उनका पुत्र है, अतः वे हर एक को जीवन की आवश्यक वस्तुएँ प्रदान करते हैं। वे उस बादल के सदृश हैं जो सबों के ऊपर जलवृष्टि करता है, चाहे यह वृष्टि चट्टान पर हो या स्थल पर, या जल में हो। किन्तु भगवान् अपने भक्तों का विशेष ध्यान रखते हैं। ऐसे ही भक्तों का यहाँ उल्लेख हुआ है–वे सदैव कृष्णभावनामृत में रहते हैं, फलतः वे निरन्तर कृष्ण में लीन रहते हैं। कृष्णभावनामृत शब्द ही बताता है कि जो लोग ऐसे भावनामृत में रहते हैं वे सजीव अध्यात्मवादी हैं और उन्हीं में स्थित हैं। भगवान् यहाँ स्पष्ट रूप से कहते हैं–*मयि ते* अर्थात् वे मुझमें हैं। फलतः भगवान् भी उनमें हैं। इससे *ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्* की भी व्याख्या हो जाती है–जो भी मेरी शरण में आ जाता है, उसकी मैं उसी रूप में रखवाली करता हूँ। यह दिव्य आदान-प्रदान भाव विद्यमान रहता है, क्योंकि भक्त तथा भगवान् दोनों सचेतन हैं। जब हीरे को सोने की अँगूठी में जड़ दिया जाता है तो वह अत्यन्त सुन्दर लगता है। इससे सोने की महिमा बढ़ती है, किन्तु साथ ही हीरे की भी महिमा बढ़ती है। भगवान् तथा जीव निरन्तर चमकते रहते हैं और जब कोई जीव भगवान् की सेवा में प्रवृत्त होता है तो वह सोने की भाँति दिखता है। भगवान् हीरे के समान हैं, अतः यह संयोग अत्युत्तम होता है। शुद्ध अवस्था में जीव भक्त कहलाते हैं। परमेश्वर अपने भक्तों के भी भक्त बन जाते हैं। यदि भगवान् तथा भक्त में आदान-प्रदान का भाव न रहे तो सगुणवादी दर्शन ही न रहे। मायावादी दर्शन में परमेश्वर तथा जीव के मध्य ऐसा आदान-प्रदान का भाव नहीं मिलता, किन्तु सगुणवादी दर्शन में ऐसा होता है।

प्रायः यह दृष्टान्त दिया जाता है कि भगवान् कल्पवृक्ष के समान हैं और मनुष्य इस वृक्ष से जो भी माँगता है, भगवान् उसकी पूर्ति करते हैं। किन्तु यहाँ पर जो व्याख्या दी गई है वह अधिक पूर्ण है। यहाँ पर भगवान् को भक्त का पक्ष लेने वाला कहा गया है। यह भक्त के प्रति भगवान् की विशेष कृपा की अभिव्यक्ति है। भगवान् के आदान-प्रदान

भाव को कर्म के नियम के अन्तर्गत नहीं मानना चाहिए। यह तो उस दिव्य अवस्था से सम्बन्धित रहता है जिसमें भगवान् तथा उनके भक्त कर्म करते हैं। भगवद्भक्ति इस जगत का कार्य नहीं है, यह तो उस अध्यात्म जगत का अंश है, जहाँ शाश्वत आनन्द तथा ज्ञान का प्राधान्य रहता है।

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

अपि—भी; **चेत्**—यदि; **सु-दुराचारः**—अत्यन्त गर्हित कर्म करने वाला; **भजते**—सेवा करता है; **माम्**—मेरी; **अनन्य-भाक्**—बिना विचलित हुए; **साधुः**—साधु पुरुष; **एव**—निश्चय ही; **सः**—वह; **मन्तव्यः**—मानने योग्य; **सम्यक्**—पूर्णतया; **व्यवसितः**—संकल्प वाला; **हि**—निश्चय ही; **सः**—वह।

यदि कोई जघन्य से जघन्य कर्म करता है, किन्तु यदि वह भक्ति में रत रहता है तो उसे साधु मानना चाहिए, क्योंकि वह अपने संकल्प में अडिग रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक का *सुदुराचारः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, अतः हमें इसे ठीक से समझना होगा। जब मनुष्य बद्ध रहता है तो उसके दो प्रकार के कर्म होते हैं—प्रथम बद्ध और द्वितीय स्वाभाविक। जिस प्रकार शरीर की रक्षा करने या समाज तथा राज्य के नियमों का पालन करने के लिए तरह-तरह के कर्म करने होते हैं, उसी प्रकार से बद्ध जीवन के प्रसंग में भक्तों के लिए कर्म होते हैं, जो बद्ध कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त, जो जीव अपने आध्यात्मिक स्वभाव से पूर्णतया भिज्ञ रहता है और कृष्णभावनामृत में या भगवद्भक्ति में लगा रहता है, उसके लिए भी कर्म होते हैं, जो दिव्य कहलाते हैं। ऐसे कार्य उसकी स्वाभाविक स्थिति में सम्पन्न होते हैं और शास्त्रीय दृष्टि से भक्ति कहलाते हैं। बद्ध अवस्था में कभी-कभी भक्ति और शरीर की बद्ध सेवा एक दूसरे के समान्तर चलती हैं। किन्तु पुनः कभी-कभी वे एक दूसरे के विपरीत हो जाती हैं। जहाँ तक सम्भव होता है, भक्त सतर्क रहता है कि वह कोई ऐसा कार्य न करे, जिससे यह अनुकूल स्थिति भंग हो। वह जानता है कि उसकी कर्म-सिद्धि उसके कृष्णभावनामृत की अनुभूति की प्रगति पर निर्भर करती है। किन्तु कभी-कभी यह देखा जाता है कि कृष्णभावनामृत में रत व्यक्ति सामाजिक या राजनीतिक दृष्टि से निन्दनीय कार्य कर बैठता है। किन्तु इस प्रकार के क्षणिक पतन से वह अयोग्य नहीं हो जाता। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति पतित हो जाय, किन्तु यदि भगवान् की दिव्य सेवा में लगा रहे तो हृदय में वास करने वाले भगवान् उसे शुद्ध कर देते हैं और उस निन्दनीय कार्य के लिए क्षमा कर देते हैं। भौतिक कल्मष इतना प्रबल है कि भगवान् की सेवा में लगा योगी भी कभी-कभी उसके जाल में आ फँसता है। लेकिन कृष्णभावनामृत इतना शक्तिशाली होता है कि इस प्रकार का आकस्मिक पतन तुरन्त रुक जाता है। इसलिए भक्तियोग सदैव सफल होता है। किसी भक्त के आदर्श पथ से अकस्मात् च्युत होने पर हँसना नहीं चाहिए, क्योंकि जैसा कि अगले श्लोक में बताया गया है ज्योंही भक्त कृष्णभावनामृत में पूर्णतया स्थित हो जाता है, ऐसे आकस्मिक पतन कुछ समय के पश्चात् रुक जाते हैं।

अतः जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में स्थित है और अनन्य भाव से *हरे कृष्ण* मन्त्र का जप करता है, उसे दिव्य स्थिति में आसीन समझना चाहिए, भले ही दैववशात् उसका पतन क्यों न हो चुका हो। *साधुरेव* शब्द अत्यन्त प्रभावात्मक हैं। ये अभक्तों को सावधान करते हैं कि आकस्मिक पतन के कारण भक्त का उपहास नहीं किया जाना चाहिए, उसे तब भी साधु ही मानना चाहिए। *मन्तव्यः* शब्द तो इससे भी अधिक बलशाली है। यदि कोई इस नियम को नहीं मानता और भक्त पर उसके पतन के कारण हँसता है तो वह भगवान् के आदेश की अवज्ञा करता है। भक्त की एकमात्र योग्यता यह है कि वह अविचल तथा अनन्य भाव से भक्ति में तत्पर रहे।

नृसिंह पुराण में निम्नलिखित कथन प्राप्त है—

भगवति च हरावनन्यचेता
भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः।
न हि शशकलुषच्छबिः कदाचित्
तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः॥

कहने का अर्थ यह है कि यदि भगवद्भक्ति में तत्पर व्यक्ति कभी घृणित कार्य करता पाया जाये तो इन कार्यों को उन धब्बों की तरह मान लेना चाहिए, जिस प्रकार चाँद में खरगोश के धब्बे हैं। इन धब्बों से चाँदनी के विस्तार में बाधा नहीं आती। इसी प्रकार साधु-पथ से भक्त का आकस्मिक पतन उसे निन्दनीय नहीं बनाता।

किन्तु इसी के साथ यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि दिव्य भक्ति करने वाला भक्त सभी प्रकार के निन्दनीय कर्म कर सकता है। इस श्लोक में केवल इसका उल्लेख है कि भौतिक सम्बन्धों की प्रबलता के कारण कभी कोई दुर्घटना हो सकती है। भक्ति तो एक प्रकार से माया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा है। जब तक मनुष्य माया से लड़ने के लिए पर्याप्त बलशाली नहीं होता, तब तक आकस्मिक पतन हो सकते हैं। किन्तु बलवान होने पर ऐसे पतन नहीं होते, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। मनुष्य को इस श्लोक का दुरुपयोग करते हुए अशोभनीय कर्म नहीं करना चाहिए और यह नहीं सोचना चाहिए कि इतने पर भी वह भक्त बना रह सकता है। यदि वह भक्ति के द्वारा अपना चरित्र नहीं सुधार लेता तो उसे उच्चकोटि का भक्त नहीं मानना चाहिए।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१॥

क्षिप्रम्—शीघ्र; **भवति**—बन जाता है; **धर्म-आत्मा**—धर्मपरायण; **शश्वत्-शान्तिम्**—स्थायी शान्ति को; **निगच्छति**—प्राप्त करता है; **कौन्तेय**—हे कुन्तीपुत्र; **प्रतिजानीहि**—घोषित कर दो; **न**—कभी नहीं; **मे**—मेरा; **भक्तः**—भक्त; **प्रणश्यति**—नष्ट होता है।

वह तुरन्त धर्मात्मा बन जाता है और स्थायी शान्ति को प्राप्त होता है। हे कुन्तीपुत्र! निडर होकर घोषणा कर दो कि मेरे भक्त का कभी विनाश नहीं होता है।

तात्पर्य : इसका कोई दूसरा अर्थ नहीं लगाना चाहिए। सातवें अध्याय में भगवान् कहते हैं कि जो दुष्कृती है, वह भगवद्भक्त नहीं हो सकता। जो भगवद्भक्त नहीं है, उसमें

कोई भी योग्यता नहीं होती। तब प्रश्न यह उठता है कि संयोगवश या स्वेच्छा से निन्दनीय कर्मों में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति किस प्रकार भक्त हो सकता है? यह प्रश्न ठीक ही है। जैसा कि सातवें अध्याय में कहा गया है, जो दुष्टात्मा कभी भक्ति के पास नहीं फटकता, उसमें कोई सद्गुण नहीं होते। *श्रीमद्भागवत* में भी इसका उल्लेख है। सामान्यतया नौ प्रकार के भक्ति-कार्यों में युक्त रहने वाला भक्त अपने हृदय को भौतिक कल्मष से शुद्ध करने में लगा होता है। वह भगवान् को अपने हृदय में बसाता है, फलतः उसके सारे पापपूर्ण कल्मष धुल जाते हैं। निरन्तर भगवान् का चिन्तन करने से वह स्वतः शुद्ध हो जाता है। वेदों के अनुसार ऐसा विधान है कि यदि कोई अपने उच्चपद से नीचे गिर जाता है तो अपनी शुद्धि के लिए उसे कुछ अनुष्ठान करने होते हैं। किन्तु यहाँ पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है, क्योंकि शुद्धि की क्रिया भगवान् का निरन्तर स्मरण करते रहने से पहले से ही भक्त के हृदय में चलती रहती है। अतः *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस मन्त्र का अनवरत जप करना चाहिए। यह भक्त को आकस्मिक पतन से बचाएगा। इस प्रकार वह समस्त भौतिक कल्मषों से सदैव मुक्त रहेगा।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥

माम्—मेरी; **हि**—निश्चय ही; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **व्यपाश्रित्य**—शरण ग्रहण करके; **ये**—जो; **अपि**—भी; **स्युः**—हैं; **पाप-योनयः**—निम्नकुल में उत्पन्न; **स्त्रियः**—स्त्रियाँ; **वैश्याः**—वणिक लोग; **तथा**—भी; **शूद्राः**—निम्न श्रेणी के व्यक्ति; **ते अपि**—वे भी; **यान्ति**—जाते हैं; **पराम्**—परम; **गतिम्**—गन्तव्य को।

हे पार्थ! जो लोग मेरी शरण ग्रहण करते हैं, वे भले ही निम्नजन्मा स्त्री, वैश्य (व्यापारी) तथा शूद्र (श्रमिक) क्यों न हों, वे परमधाम को प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् ने स्पष्ट कहा है कि भक्ति में उच्च तथा निम्न जाति के लोगों का भेद नहीं होता। भौतिक जीवन में ऐसा विभाजन होता है, किन्तु भगवान् की दिव्य भक्ति में लगे व्यक्ति पर यह लागू नहीं होता। सभी परमधाम के अधिकारी हैं। *श्रीमद्भागवत* में (२.४.१८) कथन है कि अधम योनि चाण्डाल भी शुद्ध भक्त के संसर्ग से शुद्ध हो जाते हैं। अतः भक्ति तथा शुद्ध भक्त द्वारा पथप्रदर्शन इतने प्रबल हैं कि वहाँ ऊँचनीच का भेद नहीं रह जाता और कोई भी इसे ग्रहण कर सकता है। शुद्ध भक्त की शरण ग्रहण करके सामान्य से सामान्य व्यक्ति शुद्ध हो सकता है। प्रकृति के विभिन्न गुणों के अनुसार मनुष्यों को सात्त्विक (ब्राह्मण), रजोगुणी (क्षत्रिय) तथा तामसी (वैश्य तथा शूद्र) कहा जाता है। इनसे भी निम्न पुरुष चाण्डाल कहलाते हैं और वे पापी कुलों में जन्म लेते हैं। सामान्य रूप से उच्चकुल वाले इन निम्नकुल में जन्म लेने वालों की संगति नहीं करते। किन्तु भक्तियोग इतना प्रबल होता है कि भगवद्भक्त समस्त निम्नकुल वाले व्यक्तियों को जीवन की परम सिद्धि प्राप्त करा सकते हैं। यह तभी सम्भव है जब कोई कृष्ण की शरण में जाये। जैसा कि *व्यपाश्रित्य* शब्द से सूचित है, मनुष्य को पूर्णतया

कृष्ण की शरण ग्रहण करनी चाहिए। तब वह बड़े से बड़े ज्ञानी तथा योगी से भी महान बन सकता है।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥

किम्—क्या, कितना; **पुनः**—फिर; **ब्राह्मणाः**—ब्राह्मण; **पुण्याः**—धर्मात्मा; **भक्ताः**—भक्तगण; **राज-ऋषयः**—साधु राजे; **तथा**—भी; **अनित्यम्**—नाशवान; **असुखम्**—दुखमय; **लोकम्**—लोक को; **इमम्**—इस; **प्राप्य**—प्राप्त करके; **भजस्व**—प्रेमाभक्ति में लगो; **माम्**—मेरी।

फिर धर्मात्मा ब्राह्मणों, भक्तों तथा राजर्षियों के लिए तो कहना ही क्या है! अतः इस क्षणिक दुखमय संसार में आ जाने पर मेरी प्रेमाभक्ति में अपने आपको लगाओ।

तात्पर्य : इस संसार में कई श्रेणियों के लोग हैं, किन्तु तो भी यह संसार किसी के लिए सुखमय स्थान नहीं है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है—*अनित्यम् असुखं लोकम्*—यह जगत् अनित्य तथा दुखमय है और किसी भी भले मनुष्य के रहने लायक नहीं है। भगवान् इस संसार को क्षणिक तथा दुखमय घोषित कर रहे हैं। कुछ दार्शनिक, विशेष रूप से मायावादी, कहते हैं कि यह संसार मिथ्या है, किन्तु *भगवद्गीता* से हम यह जान सकते हैं कि यह संसार मिथ्या नहीं है, यह अनित्य है। अनित्य तथा मिथ्या में अन्तर है। यह संसार अनित्य है, किन्तु एक दूसरा भी संसार है जो नित्य है। यह संसार दुखमय है, किन्तु दूसरा संसार नित्य तथा आनन्दमय है।

अर्जुन का जन्म ऋषितुल्य राजकुल में हुआ था। अतः भगवान् उससे भी कहते हैं, "मेरी सेवा करो, और शीघ्र ही मेरे धाम को प्राप्त करो।" किसी को भी इस अनित्य संसार में नहीं रहना चाहिए, क्योंकि यह दुखमय है। प्रत्येक व्यक्ति को भगवान् के हृदय से लगना चाहिए, जिससे वह सदैव सुखी रह सके। भगवद्भक्ति ही एकमात्र ऐसी विधि है जिसके द्वारा सभी वर्गों के लोगों की सारी समस्याएँ सुलझाई जा सकती हैं। अतः प्रत्येक व्यक्ति को कृष्णभावनामृत स्वीकार करके अपने जीवन को सफल बनाना चाहिए।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥ ३४॥

मत्-मनाः—सदैव मेरा चिन्तन करने वाला; **भव**—होओ; **मत्**—मेरा; **भक्तः**—भक्त; **मत्**—मेरा; **याजी**—उपासक; **माम्**—मुझको; **नमस्कुरु**—नमस्कार करो; **माम्**—मुझको; **एव**—निश्चय ही; **एष्यसि**—पाओगे; **युक्त्वा**—लीन होकर; **एवम्**—इस प्रकार; **आत्मानम्**—अपनी आत्मा को; **मत्-परायणः**—मेरी भक्ति में अनुरक्त।

अपने मन को मेरे नित्य चिन्तन में लगाओ, मेरे भक्त बनो, मुझे नमस्कार करो और मेरी ही पूजा करो। इस प्रकार मुझमें पूर्णतया तल्लीन होने पर तुम निश्चित रूप से मुझको प्राप्त होगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में स्पष्ट इंगित है कि इस कल्मषग्रस्त भौतिक जगत् से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन कृष्णभावनामृत है। कभी-कभी कपटी भाष्यकार इस स्पष्ट कथन का तोड़मरोड़ कर अर्थ करते हैं : कि सारी भक्ति भगवान् कृष्ण को समर्पित की जानी चाहिए। दुर्भाग्यवश ऐसे भाष्यकार पाठकों का ध्यान ऐसी बात की ओर आकर्षित करते हैं जो सम्भव नहीं है। ऐसे भाष्यकार यह नहीं जानते कि कृष्ण के मन तथा कृष्ण में कोई अन्तर नहीं है। कृष्ण कोई सामान्य मनुष्य नहीं हैं, वे परमेश्वर हैं। उनका शरीर, उनका मन तथा स्वयं वे एक हैं और परम हैं। जैसा कि *कूर्मपुराण* में कहा गया है और भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी ने *चैतन्यचरितामृत* (पंचम अध्याय, आदि लीला ४१-४८) के अनुभाष्य में उद्धृत किया है—*देहदेहीविभेदोऽयं नेश्वरे विद्यते क्वचित्*—अर्थात् परमेश्वर कृष्ण में तथा उनके शरीर में कोई अन्तर नहीं है। लेकिन इस कृष्णतत्त्व को न जानने के कारण भाष्यकार कृष्ण को छिपाते हैं और उनको उनके मन या शरीर से पृथक् बताते हैं। यद्यपि यह कृष्णतत्त्व के प्रति निरी अज्ञानता है, किन्तु कुछ लोग जनता को भ्रमित करके धन कमाते हैं।

कुछ लोग आसुरी होते हैं, वे भी कृष्ण का चिन्तन करते हैं किन्तु ईर्ष्यावश, जिस तरह कि कृष्ण का मामा राजा कंस करता था। वह भी कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करता रहता था, किन्तु वह उन्हें अपने शत्रु रूप में सोचता था। वह सदैव चिन्ताग्रस्त रहता था और सोचता रहता था कि न जाने कब कृष्ण उसका वध कर दें। इस प्रकार के चिन्तन से हमें कोई लाभ होने वाला नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि भक्तिमय प्रेम में उनका चिन्तन करे। यही भक्ति है। उसे चाहिए कि वह निरन्तर कृष्णतत्त्व का अनुशीलन करे। तो वह उपयुक्त अनुशीलन क्या है? यह प्रामाणिक गुरु से सीखना है। कृष्ण भगवान् हैं और हम कई बार कह चुके हैं कि उनका शरीर भौतिक नहीं है अपितु सच्चिदानन्द स्वरूप है। इस प्रकार की चर्चा से मनुष्य को भक्त बनने में सहायता मिलेगी। अन्यथा अप्रामाणिक साधन से कृष्ण का ज्ञान प्राप्त करना व्यर्थ होगा।

अतः मनुष्य को कृष्ण के आदि रूप में मन को स्थिर करना चाहिए, उसे अपने मन में यह दृढ़ विश्वास करके पूजा करने में प्रवृत्त होना चाहिए कि कृष्ण ही परम हैं। कृष्ण की पूजा के लिए भारत में हजारों मन्दिर हैं, जहाँ पर भक्ति का अभ्यास किया जाता है। जब ऐसा अभ्यास हो रहा हो तो मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण को नमस्कार करे। उसे अर्चाविग्रह के समक्ष नतमस्तक होकर मनसा वाचा कर्मणा हर प्रकार से प्रवृत्त होना चाहिए। इससे वह कृष्णभाव में पूर्णतया तल्लीन हो सकेगा। इससे वह कृष्णलोक को जा सकेगा। उसे चाहिए कि कपटी भाष्यकारों के बहकावे में न आए। उसे श्रवण, कीर्तन आदि नवधा भक्ति में प्रवृत्त होना चाहिए। शुद्ध भक्ति मानव समाज की चरम उपलब्धि है।

भगवद्गीता के सातवें तथा आठवें अध्यायों में भगवान् की ऐसी शुद्ध भक्ति की व्याख्या की गई है, जो कल्पना, योग तथा सकाम कर्म से मुक्त है। जो पूर्णतया शुद्ध नहीं हो पाते वे भगवान् के विभिन्न स्वरूपों द्वारा यथा निर्विशेषवादी ब्रह्मज्योति तथा अन्तर्यामी परमात्मा द्वारा आकृष्ट होते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त तो परमेश्वर की साक्षात् सेवा करता है।

कृष्ण सम्बन्धी एक उत्तम पद्य में कहा गया है कि जो व्यक्ति देवताओं की पूजा में रत हैं, वे सर्वाधिक अज्ञानी हैं, उन्हें कभी भी कृष्ण का चरम वरदान प्राप्त नहीं हो सकता। हो सकता है कि प्रारम्भ में कोई भक्त अपने स्तर से नीचे गिर जाये, तो भी उसे अन्य सारे दार्शनिकों तथा योगियों से श्रेष्ठ मानना चाहिए। जो व्यक्ति निरन्तर कृष्ण भक्ति में लगा रहता है, उसे पूर्ण साधुपुरुष समझना चाहिए। क्रमशः उसके आकस्मिक भक्ति-विहीन कार्य कम होते जाएँगे और उसे शीघ्र ही पूर्ण सिद्धि प्राप्त होगी। वास्तव में शुद्ध भक्त के पतन का कभी कोई अवसर नहीं आता, क्योंकि भगवान् स्वयं ही अपने शुद्ध भक्तों की रक्षा करते हैं। अतः बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह सीधे कृष्णभावनामृत पथ को ग्रहण करे और संसार में सुखपूर्वक जीवन बिताए। अन्ततोगत्वा वह कृष्ण रूपी परम पुरस्कार प्राप्त करेगा।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के नवें अध्याय "परम गुह्य ज्ञान" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय दस

श्रीभगवान् का ऐश्वर्य

श्रीभगवानुवाच

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया॥ १॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **भूयः**—फिर; **एव**—निश्चय ही; **महा-बाहो**—हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; **शृणु**—सुनो; **मे**—मेरा; **परमम्**—परम; **वचः**—उपदेश; **यत्**—जो; **ते**—तुमको; **अहम्**—मैं; **प्रीयमाणाय**—अपना प्रिय मानकर; **वक्ष्यामि**—कहता हूँ; **हित-काम्यया**—तुम्हारे हित (लाभ) के लिए।

श्रीभगवान् ने कहा—हे महाबाहु अर्जुन! और आगे सुनो। चूँकि तुम मेरे प्रिय सखा हो, अतः मैं तुम्हारे लाभ के लिए ऐसा ज्ञान प्रदान करूँगा, जो अभी तक मेरे द्वारा बताये गये ज्ञान से श्रेष्ठ होगा।

तात्पर्य : पराशर मुनि ने भगवान् शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—जो पूर्ण रूप से षड्ऐश्वर्यों—सम्पूर्ण शक्ति, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण धन, सम्पूर्ण ज्ञान, सम्पूर्ण सौन्दर्य तथा सम्पूर्ण त्याग—से युक्त है, वह भगवान् है। जब कृष्ण इस धराधाम में थे, तो उन्होंने

छहों ऐश्वर्यों का प्रदर्शन किया था, फलतः पराशर जैसे मुनियों ने कृष्ण को भगवान् रूप में स्वीकार किया है। अब अर्जुन को कृष्ण अपने ऐश्वर्यों तथा कार्य का और भी गुह्य ज्ञान प्रदान कर रहे हैं। इसके पूर्व सातवें अध्याय से प्रारम्भ करके वे अपनी शक्तियों तथा उनके कार्य करने के विषय में बता चुके हैं। अब इस अध्याय में वे अपने ऐश्वर्यों का वर्णन कर रहे हैं। पिछले अध्याय में उन्होंने दृढ़ विश्वास के साथ भक्ति स्थापित करने में अपनी विभिन्न शक्तियों के योगदान की चर्चा स्पष्टतया की है। इस अध्याय में पुनः वे अर्जुन को अपनी सृष्टियों तथा विभिन्न ऐश्वर्यों के विषय में बता रहे हैं।

ज्यों-ज्यों भगवान् के विषय में कोई सुनता है, त्यों-त्यों वह भक्ति में रमता जाता है। मनुष्य को चाहिए कि भक्तों की संगति में भगवान् के विषय में सदा श्रवण करे, इससे उसकी भक्ति बढ़ेगी। भक्तों के समाज में ऐसी चर्चाएँ केवल उन लोगों के बीच हो सकती हैं, जो सचमुच कृष्णभावनामृत के इच्छुक हों। ऐसी चर्चाओं में अन्य लोग भाग नहीं ले सकते। भगवान् अर्जुन से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि चूँकि तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो, अतः तुम्हारे लाभ के लिए ऐसी बातें कह रहा हूँ।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः॥ २॥

न—कभी नहीं; **मे**—मेरे; **विदुः**—जानते हैं; **सुर-गणाः**—देवता; **प्रभवम्**—उत्पत्ति या ऐश्वर्य को; **न**—कभी नहीं; **महा-ऋषयः**—बड़े-बड़े ऋषि; **अहम्**—मैं हूँ; **आदिः**—उत्पत्ति; **हि**—निश्चय ही; **देवानाम्**—देवताओं का; **महा-ऋषीणाम्**—महर्षियों का; **च**—भी; **सर्वशः**—सभी तरह से।

न तो देवतागण मेरी उत्पत्ति या ऐश्वर्य को जानते हैं और न महर्षिगण ही जानते हैं, क्योंकि मैं सभी प्रकार से देवताओं और महर्षियों का भी कारणस्वरूप (उद्गम) हूँ।

तात्पर्य : जैसा कि *ब्रह्मसंहिता* में कहा गया है, भगवान् कृष्ण ही परमेश्वर हैं। उनसे बढ़कर कोई नहीं है, वे समस्त कारणों के कारण हैं। यहाँ पर भगवान् स्वयं कहते हैं कि वे समस्त देवताओं तथा ऋषियों के कारण हैं। देवता तथा महर्षि तक कृष्ण को नहीं समझ पाते। जब वे उनके नाम या उनके व्यक्तित्व को नहीं समझ पाते तो इस क्षुद्रलोक के तथाकथित विद्वानों के विषय में क्या कहा जा सकता है? कोई नहीं जानता कि परमेश्वर क्यों मनुष्य रूप में इस पृथ्वी पर आते हैं और ऐसे विस्मयजनक असामान्य कार्यकलाप करते हैं। तब तो यह समझ लेना चाहिए कि कृष्ण को जानने के लिए विद्वत्ता आवश्यक नहीं है। बड़े-बड़े देवताओं तथा ऋषियों ने मानसिक चिन्तन द्वारा कृष्ण को जानने का प्रयास किया, किन्तु जान नहीं पाये। *श्रीमद्भागवत* में भी स्पष्ट कहा गया है कि बड़े से बड़े देवता भी भगवान् को नहीं जान पाते। जहाँ तक उनकी अपूर्ण इन्द्रियाँ पहुँच पाती हैं, वहीं तक वे सोच पाते हैं और निर्विशेषवाद के ऐसे विपरीत निष्कर्ष को प्राप्त होते हैं, जो प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा व्यक्त नहीं होता, या कि वे मनःचिन्तन द्वारा कुछ कल्पना करते हैं, किन्तु इस तरह के मूर्खतापूर्ण चिन्तन से कृष्ण को नहीं समझा जा सकता।

यहाँ पर भगवान् अप्रत्यक्ष रूप में यह कहते हैं कि यदि कोई परम सत्य को जानना चाहता है तो, "लो, मैं भगवान् के रूप में यहाँ हूँ। मैं परम भगवान् हूँ।" मनुष्य को चाहिए कि इसे समझे। यद्यपि अचिन्त्य भगवान् को साक्षात् रूप में कोई नहीं जान सकता, तो भी वे विद्यमान रहते हैं। वास्तव में हम सच्चिदानन्द रूप कृष्ण को तभी समझ सकते हैं, जब *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में उनके वचनों को पढ़ें। जो भगवान् की अपरा शक्ति में हैं, उन्हें ईश्वर की अनुभूति किसी शासन करने वाली शक्ति या निर्विशेष ब्रह्म रूप में होती है, किन्तु भगवान् को जानने के लिए दिव्य स्थिति में होना आवश्यक है।

चूँकि अधिकांश लोग कृष्ण को उनके वास्तविक रूप में नहीं समझ पाते, अतः वे अपनी अहैतुकी कृपा से ऐसे चिन्तकों पर दया दिखाने के लिए अवतरित होते हैं। ये चिन्तक भगवान् के असामान्य कार्यकलापों के होते हुए भी भौतिक शक्ति (माया) से कल्मषग्रस्त होने के कारण निर्विशेष ब्रह्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। केवल भक्तगण ही जो भगवान् की शरण पूर्णतया ग्रहण कर चुके हैं, भगवत्कृपा से समझ पाते हैं कि कृष्ण सर्वश्रेष्ठ हैं। भगवद्भक्त निर्विशेष ब्रह्म की परवाह नहीं करते। वे अपनी श्रद्धा तथा भक्ति के कारण परमेश्वर की शरण ग्रहण करते हैं और कृष्ण की अहैतुकी कृपा से ही उन्हें समझ पाते हैं। अन्य कोई उन्हें नहीं समझ पाता। अतः बड़े से बड़े ऋषि भी स्वीकार करते हैं कि आत्मा या परमात्मा तो वह है, जिसकी हम पूजा करते हैं।

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते॥ ३॥

यः—जो; **माम्**—मुझको; **अजम्**—अजन्मा; **अनादिम्**—आदिरहित; **च**—भी; **वेत्ति**—जानता है; **लोक**—लोकों का; **महा-ईश्वरम्**—परम स्वामी; **असम्मूढः**—मोहरहित; **सः**—वह; **मर्त्येषु**—मरणशील लोगों में; **सर्व-पापैः**—सारे पापकर्मों से; **प्रमुच्यते**—मुक्त हो जाता है।

जो मुझे अजन्मा, अनादि, समस्त लोकों के स्वामी के रूप में जानता है, मनुष्यों में केवल वही मोहरहित और समस्त पापों से मुक्त होता है।

तात्पर्य : जैसा कि सातवें अध्याय में (७.३) कहा गया है—*मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये*—जो लोग आत्म-साक्षात्कार के पद तक उठने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, वे सामान्य व्यक्ति नहीं हैं, वे उन करोड़ों सामान्य व्यक्तियों से श्रेष्ठ हैं, जिन्हें आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान नहीं होता। किन्तु जो वास्तव में अपनी आध्यात्मिक स्थिति को समझने के लिए प्रयत्नशील होते हैं, उनमें से श्रेष्ठ वही है, जो यह जान लेता है कि कृष्ण ही भगवान्, प्रत्येक वस्तु के स्वामी तथा अजन्मा हैं, वही सबसे अधिक सफल अध्यात्मज्ञानी है। जब वह कृष्ण की परम स्थिति को पूरी तरह समझ लेता है, उसी दशा में वह समस्त पापकर्मों से मुक्त हो पाता है।

यहाँ पर भगवान् को *अज* अर्थात् अजन्मा कहा गया है, किन्तु वे द्वितीय अध्याय में वर्णित उन जीवों से भिन्न हैं, जिन्हें *अज* कहा गया है। भगवान् जीवों से भिन्न हैं, क्योंकि जीव भौतिक आसक्तिवश जन्म लेते तथा मरते रहते हैं। बद्धजीव अपना शरीर

बदलते रहते हैं, किन्तु भगवान् का शरीर परिवर्तनशील नहीं है। यहाँ तक कि जब वे इस लोक में आते हैं तो भी वे उसी अजन्मा रूप में आते हैं। इसीलिए चौथे अध्याय में कहा गया है कि भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति के कारण अपराशक्ति माया के अधीन नहीं हैं, अपितु पराशक्ति में रहते हैं।

इस श्लोक के *वेत्ति लोक महेश्वरम्* शब्दों से सूचित होता है कि मनुष्य को यह जानना चाहिए कि भगवान् कृष्ण ब्रह्माण्ड के सभी लोकों के परम स्वामी हैं। वे सृष्टि के पूर्व थे और अपनी सृष्टि से भिन्न हैं। सारे देवता इसी भौतिक जगत् में उत्पन्न हुए, किन्तु कृष्ण अजन्मा हैं, फलतः वे ब्रह्मा तथा शिवजी जैसे बड़े-बड़े देवताओं से भी भिन्न हैं और चूँकि वे ब्रह्मा, शिव तथा अन्य समस्त देवताओं के स्रष्टा हैं, अतः वे समस्त लोकों के परम पुरुष हैं।

अतएव श्रीकृष्ण उस हर वस्तु से भिन्न हैं, जिसकी सृष्टि हुई है और जो उन्हें इस रूप में जान लेता है, वह तुरन्त ही सारे पापकर्मों से मुक्त हो जाता है। परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य को समस्त पापकर्मों से मुक्त होना चाहिए। जैसा कि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि उन्हें केवल भक्ति के द्वारा जाना जा सकता है, किसी अन्य साधन से नहीं।

मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण को सामान्य मनुष्य न समझे। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, केवल मूर्ख व्यक्ति ही उन्हें मनुष्य मानता है। इसे यहाँ भिन्न प्रकार से कहा गया है। जो व्यक्ति मूर्ख नहीं है, जो भगवान् के स्वरूप को ठीक से समझ सकता है, वह समस्त पापकर्मों से मुक्त है।

यदि कृष्ण देवकीपुत्र रूप में विख्यात हैं, तो फिर वे अजन्मा कैसे हो सकते हैं? इसकी व्याख्या *श्रीमद्भागवत* में भी की गई है—जब वे देवकी तथा वसुदेव के समक्ष प्रकट हुए तो वे सामान्य शिशु की तरह नहीं जन्मे। वे अपने आदि रूप में प्रकट हुए और फिर एक सामान्य शिशु में परिणत हो गए।

कृष्ण की अध्यक्षता में जो भी कर्म किया जाता है, वह दिव्य है। वह शुभ या अशुभ फलों से दूषित नहीं होता। इस जगत् में शुभ या अशुभ वस्तुओं का बोध बहुत कुछ मनोधर्म है, क्योंकि इस भौतिक जगत् में कुछ भी शुभ नहीं है। प्रत्येक वस्तु अशुभ है, क्योंकि प्रकृति स्वयं ही अशुभ है। हम इसे शुभ मानने की कल्पना मात्र करते हैं। वास्तविक मंगल तो पूर्णभक्ति और सेवाभाव से युक्त कृष्णभावनामृत पर ही निर्भर करता है। अतः यदि हम तनिक भी चाहते हैं कि हमारे कर्म शुभ हों तो हमें परमेश्वर की आज्ञा से कर्म करना होगा। ऐसी आज्ञा *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* जैसे शास्त्रों से या प्रामाणिक गुरु से प्राप्त की जा सकती है। चूँकि गुरु भगवान् का प्रतिनिधि होता है, अतः उसकी आज्ञा प्रत्यक्षतः परमेश्वर की आज्ञा होती है। गुरु, साधु तथा शास्त्र एक ही प्रकार से आज्ञा देते हैं। इन तीनों स्रोतों में कोई विरोध नहीं होता। इस प्रकार से किये गये सारे कार्य इस जगत् के शुभाशुभ कर्मफलों से मुक्त होते हैं। कर्म सम्पन्न करते हुए भक्त की दिव्य मनोवृत्ति वैराग्य की होती है, जिसे संन्यास कहते हैं। जैसा कि *भगवद्गीता* के छठे अध्याय के प्रथम श्लोक में कहा गया है कि, जो भगवान् का आदेश मानकर कोई कर्तव्य करता है और जो अपने कर्मफलों की शरण ग्रहण नहीं करता

(*अनाश्रितः कर्मफलम्*), वही असली संन्यासी है। जो भगवान् के निर्देशानुसार कर्म करता है, वास्तव में संन्यासी तथा योगी वही है, केवल संन्यासी या छद्म योगी के वेष में रहने वाला व्यक्ति नहीं।

बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च॥ ४॥
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥ ५॥

बुद्धिः—बुद्धि; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **असम्मोहः**—संशय से रहित; **क्षमा**—क्षमा; **सत्यम्**—सत्यता; **दमः**—इन्द्रियनिग्रह; **शमः**—मन का निग्रह; **सुखम्**—सुख; **दुःखम्**—दुख; **भवः**—जन्म; **अभावः**—मृत्यु; **भयम्**—डर; **च**—भी; **अभयम्**—निर्भीकता; **एव**—भी; **च**—तथा; **अहिंसा**—अहिंसा; **समता**—समभाव; **तुष्टिः**—सन्तोष; **तपः**—तपस्या; **दानम्**—दान; **यशः**—यश; **अयशः**—अपयश, अपकीर्ति; **भवन्ति**—होते हैं; **भावाः**—प्रकृतियाँ; **भूतानाम्**—जीवों की; **मत्तः**—मुझसे; **एव**—निश्चय ही; **पृथक्-विधाः**—भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवस्थित।

बुद्धि, ज्ञान, संशय तथा मोह से मुक्ति, क्षमाभाव, सत्यता, इन्द्रियनिग्रह, मननिग्रह, सुख तथा दुख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश तथा अपयश—जीवों के ये विविध गुण मेरे ही द्वारा उत्पन्न हैं।

तात्पर्य : जीवों के अच्छे या बुरे गुण कृष्ण द्वारा उत्पन्न हैं और यहाँ पर उनका वर्णन किया गया है।

बुद्धि का अर्थ है नीर-क्षीर विवेक करने वाली शक्ति, और ज्ञान का अर्थ है, आत्मा तथा पदार्थ को जान लेना। विश्वविद्यालय की शिक्षा से प्राप्त सामान्य ज्ञान मात्र पदार्थ से सम्बन्धित होता है, यहाँ इसे ज्ञान नहीं स्वीकार किया गया है। ज्ञान का अर्थ है आत्मा तथा भौतिक पदार्थ के अन्तर को जानना। आधुनिक शिक्षा में आत्मा के विषय में कोई ज्ञान नहीं दिया जाता, केवल भौतिक तत्त्वों तथा शारीरिक आवश्यकताओं पर ध्यान दिया जाता है। फलस्वरूप शैक्षिक ज्ञान पूर्ण नहीं है।

असम्मोह अर्थात् संशय तथा मोह से मुक्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब मनुष्य झिझकता नहीं और दिव्य दर्शन को समझता है। वह धीरे-धीरे निश्चित रूप से मोह से मुक्त हो जाता है। हर बात को सतर्कतापूर्वक ग्रहण करना चाहिए, आँख मूँदकर कुछ भी स्वीकार नहीं करना चाहिए। *क्षमा* का अभ्यास करना चाहिए। मनुष्य को सहिष्णु होना चाहिए और दूसरों के छोटे-छोटे अपराध क्षमा कर देना चाहिए। *सत्यम्* का अर्थ है कि तथ्यों को सही रूप में अन्यों के लाभ के लिए प्रस्तुत किया जाए। तथ्यों को तोड़ना-मरोड़ना नहीं चाहिए। सामाजिक प्रथा के अनुसार कहा जाता है कि वही सत्य बोलना चाहिए जो अन्यों को प्रिय लगे। किन्तु यह सत्य नहीं है। सत्य को सही-सही रूप में बोलना चाहिए, जिससे दूसरे लोग समझ सकें कि सच्चाई क्या है। यदि कोई मनुष्य चोर है और यदि लोगों को सावधान कर दिया जाए कि अमुक व्यक्ति चोर है, तो यह सत्य है। यद्यपि सत्य कभी-कभी अप्रिय होता है, किन्तु सत्य कहने में संकोच

नहीं करना चाहिए। सत्य की माँग है कि तथ्यों को यथारूप में लोकहित के लिए प्रस्तुत किया जाए। यही सत्य की परिभाषा है।

दमः का अर्थ है कि इन्द्रियों को व्यर्थ के विषयभोग में न लगाया जाए। इन्द्रियों की समुचित आवश्यकताओं की पूर्ति का निषेध नहीं है, किन्तु अनावश्यक इन्द्रियभोग आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है। फलतः इन्द्रियों के अनावश्यक उपयोग पर नियन्त्रण रखना चाहिए। इसी प्रकार मन पर भी अनावश्यक विचारों के विरुद्ध संयम रखना चाहिए। इसे *शम* कहते हैं। मनुष्य को चाहिए कि धन-अर्जन के चिन्तन में ही सारा समय न गँवाये। यह चिन्तन शक्ति का दुरुपयोग है। *मन* का उपयोग मनुष्यों की मूल आवश्यकताओं को समझने के लिए किया जाना चाहिए और उसे ही प्रमाणपूर्वक प्रस्तुत करना चाहिए। शास्त्रमर्मज्ञों, साधुपुरुषों, गुरुओं तथा महान विचारकों की संगति में रहकर विचार-शक्ति का विकास करना चाहिए। जिस प्रकार से कृष्णभावनामृत के आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन में सुविधा हो वही *सुखम्* है। इसी प्रकार *दुःखम्* वह है जिससे कृष्णभावनामृत के अनुशीलन में असुविधा हो। जो कुछ कृष्णभावनामृत के विकास के अनुकूल हो, उसे स्वीकार करे और जो प्रतिकूल हो उसका परित्याग करे।

भव अर्थात् जन्म का सम्बन्ध शरीर से है। जहाँ तक आत्मा का प्रश्न है, वह न तो उत्पन्न होता है न मरता है। इसकी व्याख्या हम *भगवद्गीता* के प्रारम्भ में ही कर चुके हैं। जन्म तथा मृत्यु का संबंध इस भौतिक जगत् में शरीर धारण करने से है। *भय* तो भविष्य की चिन्ता से उद्भूत है। कृष्णभावनामृत में रहने वाला व्यक्ति कभी भयभीत नहीं होता, क्योंकि वह अपने कर्मों के द्वारा भगवद्धाम को वापस जाने के प्रति आश्वस्त रहता है। फलस्वरूप उसका भविष्य उज्ज्वल होता है। किन्तु अन्य लोग अपने भविष्य के विषय में कुछ नहीं जानते, उन्हें इसका कोई ज्ञान नहीं होता कि अगले जीवन में क्या होगा। फलस्वरूप वे निरन्तर चिन्ताग्रस्त रहते हैं। यदि हम चिन्तामुक्त होना चाहते हैं, तो सर्वोत्तम उपाय यह है कि हम कृष्ण को जानें तथा कृष्णभावनामृत में निरन्तर स्थित रहें। इस प्रकार हम समस्त भय से मुक्त रहेंगे। *श्रीमद्भागवत* में (११.२.३७) कहा गया है— *भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्*—भय तो हमारे मायापाश में फँस जाने से उत्पन्न होता है। किन्तु जो माया के जाल से मुक्त हैं, जो आश्वस्त हैं कि वे शरीर नहीं, अपितु भगवान् के आध्यात्मिक अंश हैं और जो भगवद्भक्ति में लगे हुए हैं, उन्हें कोई भय नहीं रहता। उनका भविष्य अत्यन्त उज्ज्वल है। यह भय तो उन व्यक्तियों की अवस्था है जो कृष्णभावनामृत में नहीं हैं। *अभयम्* तभी सम्भव है जब कृष्णभावनामृत में रहा जाए।

अहिंसा का अर्थ होता है कि अन्यों को कष्ट न पहुँचाया जाय। जो भौतिक कार्य अनेकानेक राजनीतिज्ञों, समाजशास्त्रियों, परोपकारियों आदि द्वारा किये जाते हैं, उनके परिणाम अच्छे नहीं निकलते, क्योंकि राजनीतिज्ञों तथा परोपकारियों में दिव्यदृष्टि नहीं होती, वे यह नहीं जानते कि वास्तव में मानव समाज के लिए क्या लाभप्रद है। अहिंसा का अर्थ है कि मनुष्यों को इस प्रकार से प्रशिक्षित किया जाए कि इस मानवदेह का पूरा-पूरा उपयोग हो सके। मानवदेह आत्म-साक्षात्कार के हेतु मिली है। अतः ऐसी कोई संस्था या संघ जिससे उद्देश्य की पूर्ति में प्रोत्साहन न हो, मानवदेह के प्रति हिंसा करने वाला

है। जिससे मनुष्यों के भावी आध्यात्मिक सुख में वृद्धि हो, वही अहिंसा है।

समता से राग-द्वेष से मुक्ति द्योतित होती है। न तो अत्यधिक राग अच्छा होता है और न अत्यधिक द्वेष ही। इस भौतिक जगत् को राग-द्वेष से रहित होकर स्वीकार करना चाहिए। जो कुछ कृष्णभावनामृत को सम्पन्न करने में अनुकूल हो, उसे ग्रहण करे और जो प्रतिकूल हो उसका त्याग कर दे। यही समता है। कृष्णभावनामृत युक्त व्यक्ति को न तो कुछ ग्रहण करना होता है, न त्याग करना होता है। उसे तो कृष्णभावनामृत सम्पन्न करने में उसकी उपयोगिता से प्रयोजन रहता है।

तुष्टि का अर्थ है कि मनुष्य को चाहिए कि अनावश्यक कार्य करके अधिकाधिक वस्तुएँ एकत्र करने के लिए उत्सुक न रहे। उसे तो ईश्वर की कृपा से जो प्राप्त हो जाए, उसी से प्रसन्न रहना चाहिए। यही तुष्टि है। *तपस्* का अर्थ है तपस्या। *तपस्* के अन्तर्गत वेदों में वर्णित अनेक विधि-विधानों का पालन करना होता है—यथा प्रातःकाल उठना और स्नान करना। कभी-कभी प्रातःकाल उठना अति कष्टकारक होता है, किन्तु इस प्रकार स्वेच्छा से जो भी कष्ट सहे जाते हैं वे *तपस्* या *तपस्या* कहलाते हैं। इसी प्रकार मास के कुछ विशेष दिनों में उपवास रखने का भी विधान है। हो सकता है कि इन उपवासों को करने की इच्छा न हो, किन्तु कृष्णभावनामृत के विज्ञान में प्रगति करने के संकल्प के कारण उसे ऐसे शारीरिक कष्ट उठाने होते हैं। किन्तु उसे व्यर्थ ही अथवा वैदिक आदेशों के प्रतिकूल उपवास करने की आवश्यकता नहीं है। उसे किसी राजनीतिक उद्देश्य से उपवास नहीं करना चाहिए। *भगवद्गीता* में इसे तामसी उपवास कहा गया है तथा किसी भी ऐसे कार्य से जो तमोगुण या रजोगुण में किया जाता है, आध्यात्मिक उन्नति नहीं होती। किन्तु सतोगुण में रहकर जो भी कार्य किया जाता है वह समुन्नत बनाने वाला है, अतः वैदिक आदेशों के अनुसार किया गया उपवास आध्यात्मिक ज्ञान को समुन्नत बनाता है।

जहाँ तक दान का सम्बन्ध है, मनुष्य को चाहिए कि अपनी आय का पचास प्रतिशत किसी शुभ कार्य में लगाए और यह शुभ कार्य है क्या? यह है कृष्णभावनामृत में किया गया कार्य। ऐसा कार्य शुभ ही नहीं, अपितु सर्वोत्तम होता है। चूँकि कृष्ण अच्छे हैं इसीलिए उनका कार्य (निमित्त) भी अच्छा है, अतः दान उसे दिया जाय जो कृष्णभावनामृत में लगा हो। वेदों के अनुसार ब्राह्मणों को दान दिया जाना चाहिए। यह प्रथा आज भी चालू है, यद्यपि इसका स्वरूप वह नहीं है जैसा कि वेदों का उपदेश है। फिर भी आदेश यही है कि दान ब्राह्मणों को दिया जाये। वह क्यों? क्योंकि वे आध्यात्मिक ज्ञान के अनुशीलन में लगे रहते हैं। ब्राह्मण से यह आशा की जाती है कि वह सारा जीवन ब्रह्मजिज्ञासा में लगा दे। *ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणः*—जो ब्रह्म को जाने, वही ब्राह्मण है। इसीलिए दान ब्राह्मणों को दिया जाता है, क्योंकि वे सदैव आध्यात्मिक कार्य में रत रहते हैं और उन्हें जीविकोपार्जन के लिए समय नहीं मिल पाता। वैदिक साहित्य में संन्यासियों को भी दान दिये जाने का आदेश है। संन्यासी द्वार-द्वार जाकर भिक्षा माँगते हैं। वे धनार्जन के लिए नहीं, अपितु प्रचारार्थ ऐसा करते हैं। वे द्वार-द्वार जाकर गृहस्थों को अज्ञान की निद्रा से जगाते हैं। चूँकि गृहस्थ गृहकार्यों में व्यस्त रहने के कारण अपने जीवन के वास्तविक उद्देश्य को, कृष्णभावनामृत जगाने को, भूले रहते

हैं, अतः यह संन्यासियों का कर्तव्य है कि वे भिखारी बन कर गृहस्थों के पास जाएँ और कृष्णभावनाभावित होने के लिए उन्हें प्रेरित करें। वेदों का कथन है कि मनुष्य जागे और मानव जीवन में जो प्राप्त करना है, उसे प्राप्त करे। संन्यासियों द्वारा यह ज्ञान तथा विधि वितरित की जाती है, अतः संन्यासी को ब्राह्मणों को तथा इसी प्रकार के उत्तम कार्यों के लिए दान देना चाहिए, किसी सनक के कारण नहीं।

यशस् भगवान् चैतन्य के अनुसार होना चाहिए। उनका कथन है कि मनुष्य तभी प्रसिद्धि (यश) प्राप्त करता है, जब वह महान भक्त के रूप में जाना जाता हो। यही वास्तविक यश है। यदि कोई कृष्णभावनामृत में महान बनता है और विख्यात होता है, तो वही वास्तव में प्रसिद्ध है। जिसे ऐसा यश प्राप्त न हो, वह अप्रसिद्ध है।

ये सारे गुण संसार भर में मानव समाज में तथा देवसमाज में प्रकट होते हैं। अन्य लोकों में भी विभिन्न तरह के मानव हैं और ये गुण उनमें भी होते हैं। तो, जो व्यक्ति कृष्णभावनामृत में प्रगति करना चाहता है, उसमें कृष्ण ये सारे गुण उत्पन्न कर देते हैं, किन्तु मनुष्य को तो इन्हें अपने अन्तर में विकसित करना होता है। जो व्यक्ति भगवान् की सेवा में लग जाता है, वह भगवान् की योजना के अनुसार इन सारे गुणों को विकसित कर लेता है।

हम जो कुछ भी अच्छा या बुरा देखते हैं उसका मूल श्रीकृष्ण हैं। इस संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं, जो कृष्ण में स्थित न हो। यही ज्ञान है। यद्यपि हम जानते हैं कि वस्तुएँ भिन्न रूप से स्थित हैं, किन्तु हमें यह अनुभव करना चाहिए कि सारी वस्तुएँ कृष्ण से ही उत्पन्न हैं।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

महा-ऋषयः—महर्षिगण; **सप्त**—सात; **पूर्वे**—पूर्वकाल में; **चत्वारः**—चार; **मनवः**—मनुगण; **तथा**—भी; **मत्-भावाः**—मुझसे उत्पन्न; **मानसाः**—मन से; **जाताः**—उत्पन्न; **येषाम्**—जिनकी; **लोके**—संसार में; **इमाः**—ये सब; **प्रजाः**—सन्तानें, जीव।

सप्तर्षिगण तथा उनसे भी पूर्व चार अन्य महर्षि एवं सारे मनु (मानवजाति के पूर्वज) सब मेरे मन से उत्पन्न हैं और विभिन्न लोकों में निवास करने वाले सारे जीव उनसे अवतरित होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् यहाँ पर ब्रह्माण्ड की प्रजा का आनुवंशिक वर्णन कर रहे हैं। ब्रह्मा परमेश्वर की शक्ति से उत्पन्न आदि जीव हैं, जिन्हें हिरण्यगर्भ कहा जाता है। ब्रह्मा से सात महर्षि तथा इनसे भी पूर्व चार महर्षि—सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार—एवं सारे मनु प्रकट हुए। ये पच्चीस महान ऋषि ब्रह्माण्ड के समस्त जीवों के धर्म-पथप्रदर्शक कहलाते हैं। असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में असंख्य लोक हैं और प्रत्येक लोक में नाना योनियाँ निवास करती हैं। ये सब इन्हीं पच्चीसों प्रजापतियों से उत्पन्न हैं। कृष्ण की कृपा से एक हजार दिव्य वर्षों तक तपस्या करने के बाद ब्रह्मा को सृष्टि करने का ज्ञान प्राप्त हुआ। तब ब्रह्मा से सनक, सनन्दन, सनातन तथा

सनत्कुमार उत्पन्न हुए। उनके बाद रुद्र तथा सप्तर्षि और इस प्रकार फिर भगवान् की शक्ति से सभी ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों का जन्म हुआ। ब्रह्मा को पितामह कहा जाता है और कृष्ण को प्रपितामह—पितामह का पिता। इसका उल्लेख *भगवद्गीता* के ग्यारहवें अध्याय (११.३९) में किया गया है।

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

एताम्—इस सारे; **विभूतिम्**—ऐश्वर्य को; **योगम्**—योग को; **च**—भी; **मम**—मेरा; **यः**—जो कोई; **वेत्ति**—जानता है; **तत्त्वतः**—सही-सही; **सः**—वह; **अविकल्पेन**—निश्चित रूप से; **योगेन**—भक्ति से; **युज्यते**—लगा रहता है; **न**—कभी नहीं; **अत्र**—यहाँ; **संशयः**—सन्देह, शंका।

जो मेरे इस ऐश्वर्य तथा योग से पूर्णतया आश्वस्त है, वह मेरी अनन्य भक्ति में तत्पर होता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

तात्पर्य : आध्यात्मिक सिद्धि की चरम परिणति है, भगवद्ज्ञान। जब तक कोई भगवान् के विभिन्न ऐश्वर्यों के प्रति आश्वस्त नहीं हो लेता, तब तक भक्ति में नहीं लग सकता। सामान्यतया लोग इतना तो जानते हैं कि ईश्वर महान है, किन्तु यह नहीं जानते कि वह किस प्रकार महान है। यहाँ पर उसका विस्तृत विवरण दिया गया है। जब कोई यह जान लेता है कि ईश्वर कैसे महान है, तो वह सहज ही शरणागत होकर भगवद्भक्ति में लग जाता है। भगवान् के ऐश्वर्यों को ठीक से समझ लेने पर शरणागत होने के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं रह जाता। ऐसा वास्तविक ज्ञान *भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत* तथा अन्य ऐसे ही ग्रंथों से प्राप्त किया जा सकता है।

इस ब्रह्माण्ड के संचालन के लिए विभिन्न लोकों में अनेक देवता नियुक्त हैं, जिनमें से ब्रह्मा, शिव, चारों कुमार तथा अन्य प्रजापति प्रमुख हैं। ब्रह्माण्ड की प्रजा के अनेक पितामह भी हैं और वे सब भगवान् कृष्ण से उत्पन्न हैं। भगवान् कृष्ण समस्त पितामहों के आदि पितामह हैं।

ये रहे परमेश्वर के कुछ ऐश्वर्य। जब मनुष्य को इन पर अटूट विश्वास हो जाता है, तो वह अत्यन्त श्रद्धा समेत तथा संशयरहित होकर कृष्ण को स्वीकार करता है और भक्ति करता है। भगवान् की प्रेमाभक्ति में रुचि बढ़ाने के लिए ही इस विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता है। कृष्ण की महानता को समझने में उपेक्षा भाव न बरते, क्योंकि कृष्ण की महानता को जानने पर ही एकनिष्ठ होकर भक्ति की जा सकती है।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥

अहम्—मैं; **सर्वस्य**—सबका; **प्रभवः**—उत्पत्ति का कारण; **मत्तः**—मुझसे; **सर्वम्**—सारी वस्तुएँ; **प्रवर्तते**—उद्भूत होती हैं; **इति**—इस प्रकार; **मत्वा**—जानकर; **भजन्ते**—भक्ति करते हैं; **माम्**—मेरी; **बुधाः**—विद्वानजन; **भाव-समन्विताः**—अत्यन्त मनोयोग से।

मैं समस्त आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का कारण हूँ, प्रत्येक वस्तु मुझ ही से उद्भूत है। जो बुद्धिमान यह भलीभाँति जानते हैं, वे मेरी प्रेमाभक्ति में लगते हैं तथा हृदय से पूरी तरह मेरी पूजा में तत्पर होते हैं।

तात्पर्य : जिस विद्वान ने वेदों का ठीक से अध्ययन किया हो और भगवान् चैतन्य जैसे अधिकारियों से ज्ञान प्राप्त किया हो तथा यह जानता हो कि इन उपदेशों का किस प्रकार उपयोग करना चाहिए, वही यह समझ सकता है कि भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के मूल श्रीकृष्ण ही हैं। इस प्रकार के ज्ञान से वह भगवद्भक्ति में स्थिर हो जाता है। वह व्यर्थ की टीकाओं से या मूर्खों के द्वारा कभी पथभ्रष्ट नहीं होता। सारा वैदिक साहित्य स्वीकार करता है कि कृष्ण ही ब्रह्मा, शिव तथा अन्य समस्त देवताओं के स्रोत हैं। अथर्ववेद में (*गोपालतापनी उपनिषद्* १.२४) कहा गया है—*यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च गापयति स्म कृष्णः*—प्रारम्भ में कृष्ण ने ब्रह्मा को वेदों का ज्ञान प्रदान किया और उन्होंने भूतकाल में वैदिक ज्ञान का प्रचार किया। पुनः *नारायण उपनिषद्* में (१) कहा गया है—*अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति*—तब भगवान् ने जीवों की सृष्टि करनी चाही। उपनिषद् में आगे भी कहा गया है—*नारायणाद् ब्रह्मा जायते नारायणाद् प्रजापतिः प्रजायते नारायणाद् इन्द्रो जायते। नारायणादष्टौ वसवो जायन्ते नारायणादेकादश रुद्रा जायन्ते नारायणाद्द्वादशादित्याः*—"नारायण से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, नारायण से प्रजापति उत्पन्न होते हैं, नारायण से इन्द्र और आठ वसु उत्पन्न होते हैं और नारायण से ही ग्यारह रुद्र तथा बारह आदित्य उत्पन्न होते हैं।" यह नारायण कृष्ण के ही अंश हैं।

वेदों का ही कथन है—*ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रः*—देवकी पुत्र, कृष्ण, ही भगवान् हैं (*नारायण उपनिषद्* ४)। तब यह कहा गया—*एको वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा न ईशानो नापो नाग्निसमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यः*—सृष्टि के प्रारम्भ में केवल भगवान् नारायण थे। न ब्रह्मा थे, न शिव। न अग्नि थी, न चन्द्रमा, न नक्षत्र और न सूर्य (*महा उपनिषद्* १)। *महा उपनिषद्* में यह भी कहा गया है कि शिवजी परमेश्वर के मस्तक से उत्पन्न हुए। अतः वेदों का कहना है कि ब्रह्मा तथा शिव के स्रष्टा भगवान् की ही पूजा की जानी चाहिए।

मोक्षधर्म में कृष्ण कहते हैं—

प्रजापतिं च रुद्रं चाप्यहमेव सृजामि वै।
तौ हि मां न विजानीतो मम मायाविमोहितौ॥

"मैंने ही प्रजापतियों को, शिव तथा अन्यों को उत्पन्न किया, किन्तु वे मेरी माया से मोहित होने के कारण यह नहीं जानते कि मैंने ही उन्हें उत्पन्न किया।" *वराह पुराण* में भी कहा गया है—

नारायणः परो देवस्तस्माज्जातश्चतुर्मुखः।
तस्माद्रुद्रोऽभवद्देवः स च सर्वज्ञतां गतः॥

"नारायण भगवान् हैं, जिनसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए और फिर ब्रह्मा से शिव उत्पन्न हुए।"

भगवान् कृष्ण समस्त उत्पत्तियों के स्रोत हैं और वे सर्वकारण कहलाते हैं। वे स्वयं

कहते हैं, "चूँकि सारी वस्तुएँ मुझसे उत्पन्न हैं, अतः मैं सबों का मूल कारण हूँ। सारी वस्तुएँ मेरे अधीन हैं, मेरे ऊपर कोई भी नहीं है।" कृष्ण से बढ़कर कोई परम नियन्ता नहीं है। जो व्यक्ति प्रामाणिक गुरु से या वैदिक साहित्य से इस प्रकार कृष्ण को जान लेता है, वह अपनी सारी शक्ति कृष्णभावनामृत में लगाता है और सचमुच विद्वान पुरुष बन जाता है। उसकी तुलना में अन्य सारे लोग, जो कृष्ण को ठीक से नहीं जानते, मात्र मूर्ख सिद्ध होते हैं। केवल मूर्ख ही कृष्ण को सामान्य व्यक्ति समझेगा। कृष्णभावनाभावित व्यक्ति को चाहिए कि कभी मूर्खों द्वारा मोहित न हो, उसे *भगवद्गीता* की समस्त अप्रामाणिक टीकाओं एवं व्याख्याओं से दूर रहना चाहिए और दृढ़तापूर्वक कृष्णभावनामृत में अग्रसर होना चाहिए।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥

मत्-चित्ताः–जिनके मन मुझमें रमे हैं; **मत्-गत-प्राणाः**–जिनके जीवन मुझ में अर्पित हैं; **बोधयन्तः**–उपदेश देते हुए; **परस्परम्**–एक दूसरे से, आपस में; **कथयन्तः**–बातें करते हुए; **च**–भी; **माम्**–मेरे विषय में; **नित्यम्**–निरन्तर; **तुष्यन्ति**–प्रसन्न होते हैं; **च**–भी; **रमन्ति**–दिव्य आनन्द भोगते हैं; **च**–भी।

मेरे शुद्धभक्तों के विचार मुझमें वास करते हैं, उनके जीवन मेरी सेवा में अर्पित रहते हैं और वे एक दूसरे को ज्ञान प्रदान करते तथा मेरे विषय में बातें करते हुए परम सन्तोष तथा आनन्द का अनुभव करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ जिन शुद्ध भक्तों के लक्षणों का उल्लेख हुआ है, वे निरन्तर भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में रमे रहते हैं। उनके मन कृष्ण के चरणकमलों से हटते नहीं। वे दिव्य विषयों की ही चर्चा चलाते हैं। इस श्लोक में शुद्ध भक्तों के लक्षणों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। भगवद्भक्त परमेश्वर के गुणों तथा उनकी लीलाओं के गान में अहर्निश लगे रहते हैं। उनके हृदय तथा आत्माएँ निरन्तर कृष्ण में निमग्न रहती हैं और वे अन्य भक्तों से भगवान् के विषय में बातें करने में आनन्दानुभव करते हैं।

भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था में वे सेवा में ही दिव्य आनन्द उठाते हैं और परिपक्वावस्था में वे ईश्वर-प्रेम को प्राप्त होते हैं। जब वे इस दिव्य स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे उस सर्वोच्च सिद्धि का स्वाद लेते हैं, जो भगवद्धाम में प्राप्त होती है। भगवान् चैतन्य दिव्य भक्ति की तुलना जीव के हृदय में बीज बोने से करते हैं। ब्रह्माण्ड के विभिन्न लोकों में असंख्य जीव विचरण करते रहते हैं। इनमें से कुछ ही भाग्यशाली होते हैं, जिनकी शुद्धभक्त से भेंट हो पाती है और जिन्हें भक्ति समझने का अवसर प्राप्त हो पाता है। यह भक्ति बीज के सदृश है। यदि इसे जीव के हृदय में बो दिया जाये और जीव *हरे कृष्ण* मन्त्र का श्रवण तथा कीर्तन करता रहे तो बीज अंकुरित होता है, जिस प्रकार कि नियमतः सींचते रहने से वृक्ष का बीज फलता है। भक्ति रूपी आध्यात्मिक पौधा क्रमशः बढ़ता रहता है, जब तक यह ब्रह्माण्ड के आवरण को भेदकर ब्रह्मज्योति में प्रवेश नहीं कर जाता। ब्रह्मज्योति में भी यह पौधा तब तक बढ़ता जाता है, जब तक

उस उच्चतम लोक को नहीं प्राप्त कर लेता, जिसे गोलोक वृन्दावन या कृष्ण का परमधाम कहते हैं। अन्ततोगत्वा यह पौधा भगवान् के चरणकमलों की शरण प्राप्त कर वहीं विश्राम पाता है। जिस प्रकार पौधे में क्रम से फूल तथा फल आते हैं, उसी प्रकार भक्तिरूपी पौधे में भी फल आते हैं और कीर्तन तथा श्रवण के रूप में उसका सिंचन चलता रहता है। *चैतन्य चरितामृत* में (मध्य लीला, अध्याय १९) भक्तिरूपी पौधे का विस्तार से वर्णन हुआ है। वहाँ यह बताया गया है कि जब पूर्ण पौधा भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर लेता है तो मनुष्य पूर्णतया भगवत्प्रेम में लीन हो जाता है, तब वह एक क्षण भी परमेश्वर के बिना नहीं रह पाता, जिस प्रकार कि मछली जल के बिना नहीं रह सकती। ऐसी अवस्था में भक्त वास्तव में परमेश्वर के संसर्ग से दिव्यगुण प्राप्त कर लेता है।

श्रीमद्भागवत में भी भगवान् तथा उनके भक्तों के सम्बन्ध के विषय में ऐसी अनेक कथाएँ हैं। इसीलिए *श्रीमद्भागवत* भक्तों को अत्यन्त प्रिय है जैसा कि भागवत में ही (१२.१३.१८) कहा गया है—*श्रीमद्भागवतं पुराणं अमलं यद्वैष्णवानां प्रियम्*। ऐसी कथा में भौतिक कार्यों, आर्थिक विकास, इन्द्रियतृप्ति या मोक्ष के विषय में कुछ भी नहीं है। *श्रीमद्भागवत* ही एकमात्र ऐसी कथा है, जिसमें भगवान् तथा उनके भक्तों की दिव्य प्रकृति का पूर्ण वर्णन मिलता है। फलतः कृष्णभावनाभावित जीव ऐसे दिव्य साहित्य के श्रवण में दिव्य रुचि दिखाते हैं, जिस प्रकार तरुण तथा तरुणी को परस्पर मिलने में आनन्द प्राप्त होता है।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥१०॥

तेषाम्—उन; **सतत-युक्तानाम्**—सदैव लीन रहने वालों को; **भजताम्**—भक्ति करने वालों को; **प्रीति-पूर्वकम्**—प्रेमभाव सहित; **ददामि**—देता हूँ; **बुद्धि-योगम्**—असली बुद्धि; **तम्**—वह; **येन**—जिससे; **माम्**—मुझको; **उपयान्ति**—प्राप्त होते हैं; **ते**—वे।

जो प्रेमपूर्वक मेरी सेवा करने में निरन्तर लगे रहते हैं, उन्हें मैं ज्ञान प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझ तक आ सकते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *बुद्धि-योगम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। हमें स्मरण हो कि द्वितीय अध्याय में भगवान् ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा था कि मैं तुम्हें अनेक विषयों के बारे में बता चुका हूँ और अब मैं तुम्हें बुद्धियोग की शिक्षा दूँगा। अब उसी बुद्धियोग की व्याख्या की जा रही है। बुद्धियोग कृष्णभावनामृत में रहकर कार्य करने को कहते हैं और यही उत्तम बुद्धि है। बुद्धि का अर्थ है बुद्धि और योग का अर्थ है यौगिक गतिविधियाँ अथवा यौगिक उन्नति। जब कोई भगवद्धाम को जाना चाहता है और भक्ति में वह कृष्णभावनामृत को ग्रहण कर लेता है, तो उसका यह कार्य बुद्धियोग कहलाता है। दूसरे शब्दों में, बुद्धियोग वह विधि है, जिससे मनुष्य भवबन्धन से छूटना चाहता है। उन्नति करने का चरम लक्ष्य कृष्णप्राप्ति है। लोग इसे नहीं जानते, अतः भक्तों तथा प्रामाणिक गुरु की संगति आवश्यक है। मनुष्य को ज्ञात होना चाहिए कि कृष्ण ही लक्ष्य

हैं और जब लक्ष्य निर्दिष्ट है, तो पथ पर मन्दगति से प्रगति करने पर भी अन्तिम लक्ष्य प्राप्त हो जाता है।

जब मनुष्य लक्ष्य तो जानता है, किन्तु कर्मफल में लिप्त रहता है, तो वह कर्मयोगी होता है। यह जानते हुए कि लक्ष्य कृष्ण हैं, जब कोई कृष्ण को समझने के लिए मानसिक चिन्तन का सहारा लेता है, तो वह ज्ञानयोग में लीन होता है। किन्तु जब वह लक्ष्य को जानकर कृष्णभावनामृत तथा भक्ति में कृष्ण की खोज करता है, तो वह भक्तियोगी या बुद्धियोगी होता है और यही पूर्णयोग है। यह पूर्णयोग ही जीवन की सिद्धावस्था है।

जब व्यक्ति प्रामाणिक गुरु के होते हुए तथा आध्यात्मिक संघ से सम्बद्ध रहकर भी प्रगति नहीं कर पाता, क्योंकि वह बुद्धिमान नहीं है, तो कृष्ण उसके अन्तर से उपदेश देते हैं, जिससे वह सरलता से उन तक पहुँच सके। इसके लिए जिस योग्यता की अपेक्षा है, वह यह है कि कृष्णभावनामृत में निरन्तर रहकर प्रेम तथा भक्ति के साथ सभी प्रकार की सेवा की जाए। उसे कृष्ण के लिए कुछ न कुछ कार्य करते रहना चाहिए, किन्तु प्रेमपूर्वक। यदि भक्त इतना बुद्धिमान नहीं है कि आत्म-साक्षात्कार के पथ पर प्रगति कर सके, किन्तु यदि वह एकनिष्ठ रहकर भक्तिकार्यों में रत रहता है, तो भगवान् उसे अवसर देते हैं कि वह उन्नति करके अन्त में उनके पास पहुँच जाये।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥११॥

तेषाम्—उन पर; **एव**—निश्चय ही; **अनुकम्पा-अर्थम्**—विशेष कृपा करने के लिए; **अहम्**—मैं; **अज्ञान-जम्**—अज्ञान के कारण; **तमः**—अंधकार; **नाशयामि**—दूर करता हूँ; **आत्म-भाव**—उनके हृदयों में; **स्थः**—स्थित; **ज्ञान**—ज्ञान के; **दीपेन**—दीपक द्वारा; **भास्वता**—प्रकाशमान हुए।

मैं उन पर विशेष कृपा करने के हेतु उनके हृदयों में वास करते हुए ज्ञान के प्रकाशमान दीपक के द्वारा अज्ञानजन्य अंधकार को दूर करता हूँ।

तात्पर्य : जब भगवान् चैतन्य बनारस में *हरे कृष्ण* महामन्त्र के कीर्तन का प्रवर्तन कर रहे थे, तो हजारों लोग उनका अनुसरण कर रहे थे। तत्कालीन बनारस के अत्यन्त प्रभावशाली एवं विद्वान प्रकाशानन्द सरस्वती उनको भावुक कहकर उनका उपहास करते थे। कभी-कभी भक्तों की आलोचना दार्शनिक यह सोचकर करते हैं कि भक्तगण अंधकार में हैं और दार्शनिक दृष्टि से भोले-भाले भावुक हैं, किन्तु यह तथ्य नहीं है। ऐसे अनेक बड़े-बड़े विद्वान पुरुष हैं, जिन्होंने भक्ति का दर्शन प्रस्तुत किया है। किन्तु यदि कोई भक्त उनके इस साहित्य का या अपने गुरु का लाभ न भी उठाये और यदि वह अपनी भक्ति में एकनिष्ठ रहे, तो उसके अन्तर से कृष्ण स्वयं उसकी सहायता करते हैं। अतः कृष्णभावनामृत में रत एकनिष्ठ भक्त ज्ञानरहित नहीं हो सकता। इसके लिए इतनी ही योग्यता चाहिए कि वह पूर्ण कृष्णभावनामृत में रहकर भक्ति सम्पन्न करता रहे।

आधुनिक दार्शनिकों का विचार है कि बिना विवेक के शुद्ध ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। उनके लिए भगवान् का उत्तर है—जो लोग शुद्धभक्ति में रत हैं, भले ही वे पर्याप्त शिक्षित न हों तथा वैदिक नियमों से पूर्णतया अवगत न हों, किन्तु भगवान् उनकी

सहायता करते ही हैं, जैसा कि इस श्लोक में बताया गया है।

भगवान् अर्जुन को बताते हैं कि मात्र चिन्तन से परम सत्य भगवान् को समझ पाना असम्भव है, क्योंकि भगवान् इतने महान हैं कि कोरे मानसिक प्रयास से उन्हें न तो जाना जा सकता है, न ही प्राप्त किया जा सकता है। भले ही कोई लाखों वर्षों तक चिन्तन करता रहे, किन्तु यदि भक्ति नहीं करता, यदि वह परम सत्य का प्रेमी नहीं है, तो उसे कभी भी कृष्ण या परम सत्य समझ में नहीं आएँगे। परम सत्य, कृष्ण, केवल भक्ति से प्रसन्न होते हैं और अपनी अचिन्त्य शक्ति से वे शुद्ध भक्त के हृदय में स्वयं प्रकट हो सकते हैं। शुद्धभक्त के हृदय में तो कृष्ण निरन्तर रहते हैं और कृष्ण की उपस्थिति सूर्य के समान है, जिसके द्वारा अज्ञान का अंधकार तुरन्त दूर हो जाता है। शुद्धभक्त पर भगवान् की यही विशेष कृपा है।

करोड़ों जन्मों के भौतिक संसर्ग के कल्मष के कारण मनुष्य का हृदय भौतिकता के मल (धूलि) से आच्छादित हो जाता है, किन्तु जब मनुष्य भक्ति में लगता है और निरन्तर *हरे कृष्ण* का जप करता है तो यह मल तुरन्त दूर हो जाता है और उसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त होता है। परम लक्ष्य विष्णु को इसी जप तथा भक्ति से प्राप्त किया जा सकता है, अन्य किसी प्रकार के मनोधर्म या तर्क द्वारा नहीं। शुद्ध भक्त जीवन की भौतिक आवश्यकताओं के लिए चिन्ता नहीं करता है, न तो उसे कोई और चिन्ता करने की आवश्यकता है, क्योंकि हृदय से अंधकार हट जाने पर भक्त की प्रेमाभक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् स्वतः सब कुछ प्रदान करते हैं। यही *भगवद्गीता* का उपदेश-सार है। *भगवद्गीता* के अध्ययन से मनुष्य भगवान् के शरणागत होकर शुद्धभक्ति में लग जाता है। जैसे ही भगवान् अपने ऊपर भार ले लेते हैं, मनुष्य सारे भौतिक प्रयासों से मुक्त हो जाता है।

अर्जुन उवाच

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्॥ १२॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे॥ १३॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **परम्**—परम; **ब्रह्म**—सत्य; **परम्**—परम; **धाम**—आधार; **पवित्रम्**—शुद्ध; **परमम्**—परम; **भवान्**—आप; **पुरुषम्**—पुरुष; **शाश्वतम्**—नित्य; **दिव्यम्**—दिव्य; **आदि-देवम्**—आदि स्वामी; **अजम्**—अजन्मा; **विभुम्**—सर्वोच्च; **आहुः**—कहते हैं; **त्वाम्**—आपको; **ऋषयः**—साधुगण; **सर्वे**—सभी; **देव-ऋषिः**—देवताओं के ऋषि; **नारदः**—नारद; **तथा**—भी; **असितः**—असित; **देवलः**—देवल; **व्यासः**—व्यास; **स्वयम्**—स्वयं; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **ब्रवीषि**—आप बता रहे हैं; **मे**—मुझको।

अर्जुन ने कहा—आप परम भगवान्, परमधाम, परमपवित्र, परम सत्य हैं। आप नित्य, दिव्य, आदि पुरुष, अजन्मा तथा महानतम हैं। नारद, असित, देवल तथा व्यास जैसे ऋषि आपके इस सत्य की पुष्टि करते हैं और अब आप स्वयं भी मुझसे प्रकट कह रहे हैं।

तात्पर्य : इन दो श्लोकों में भगवान् आधुनिक दार्शनिक को अवसर प्रदान करते हैं, क्योंकि यहाँ यह स्पष्ट है कि परमेश्वर जीवात्मा से भिन्न हैं। इस अध्याय के चार महत्त्वपूर्ण श्लोकों को सुनकर अर्जुन की सारी शंकाएँ जाती रहीं और उसने कृष्ण को भगवान् स्वीकार कर लिया। उसने तुरन्त ही उद्घोष किया "आप परब्रह्म हैं।" इसके पूर्व कृष्ण कह चुके हैं कि वे प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक प्राणी के आदि कारण हैं। प्रत्येक देवता तथा प्रत्येक मनुष्य उन पर आश्रित है। वे अज्ञानवश अपने को भगवान् से परम स्वतन्त्र मानते हैं। ऐसा अज्ञान भक्ति करने से पूरी तरह मिट जाता है। भगवान् ने पिछले श्लोक में इसकी पूरी व्याख्या की है। अब भगवत्कृपा से अर्जुन उन्हें परम सत्य रूप में स्वीकार कर रहा है, जो वैदिक आदेशों के सर्वथा अनुरूप है। ऐसा नहीं है कि परम सखा होने के कारण अर्जुन कृष्ण की चाटुकारी करते हुए उन्हें परम सत्य भगवान् कह रहा है। इन दो श्लोकों में अर्जुन जो भी कहता है, उसकी पुष्टि वैदिक सत्य द्वारा होती है। वैदिक आदेश इसकी पुष्टि करते हैं कि जो कोई परमेश्वर की भक्ति करता है, वही उन्हें समझ सकता है, अन्य कोई नहीं। इन श्लोकों में अर्जुन द्वारा कहे शब्द वैदिक आदेशों द्वारा पुष्ट होते हैं।

केन उपनिषद् में कहा गया है कि परब्रह्म प्रत्येक वस्तु के आश्रय हैं और कृष्ण पहले ही कह चुके हैं कि सारी वस्तुएँ उन्हीं पर आश्रित हैं। *मुण्डक उपनिषद्* में पुष्टि की गई है कि जिन परमेश्वर पर सब कुछ आश्रित है, उन्हें उनके चिन्तन में रत रहकर ही प्राप्त किया जा सकता है। कृष्ण का यह निरन्तर चिन्तन *स्मरणम्* है, जो भक्ति की नव विधियों में से है। भक्ति के द्वारा ही मनुष्य कृष्ण की स्थिति को समझ सकता है और इस भौतिक देह से छुटकारा पा सकता है।

वेदों में परमेश्वर को परम पवित्र माना गया है। जो व्यक्ति कृष्ण को परम पवित्र मानता है, वह समस्त पापकर्मों से शुद्ध हो जाता है। भगवान् की शरण में गये बिना पापकर्मों से शुद्धि नहीं हो पाती। अर्जुन द्वारा कृष्ण को परम पवित्र मानना वेदसम्मत है। इसकी पुष्टि नारद आदि ऋषियों द्वारा भी हुई है।

कृष्ण भगवान् हैं और मनुष्य को चाहिए कि वह निरन्तर उनका ध्यान करते हुए उनसे दिव्य सम्बन्ध स्थापित करे। वे परम अस्तित्व हैं। वे समस्त शारीरिक आवश्यकताओं तथा जन्म-मरण से मुक्त हैं। इसकी पुष्टि अर्जुन ही नहीं, अपितु सारे वेद पुराण तथा इतिहास ग्रंथ करते हैं। सारे वैदिक साहित्य में कृष्ण का ऐसा वर्णन मिलता है और भगवान् स्वयं भी चौथे अध्याय में कहते हैं, "यद्यपि मैं अजन्मा हूँ, किन्तु धर्म की स्थापना के लिए इस पृथ्वी पर प्रकट होता हूँ।" वे परम पुरुष हैं, उनका कोई कारण नहीं है, क्योंकि वे समस्त कारणों के कारण हैं और सब कुछ उन्हीं से उद्भूत है। ऐसा पूर्णज्ञान केवल भगवत्कृपा से प्राप्त होता है।

यहाँ पर अर्जुन कृष्ण की कृपा से ही अपने विचार व्यक्त करता है। यदि हम *भगवद्गीता* को समझना चाहते हैं तो हमें इन दोनों श्लोकों के कथनों को स्वीकार करना होगा। यह परम्परा-प्रणाली कहलाती है अर्थात् गुरु-परम्परा को मानना। परम्परा-प्रणाली के बिना *भगवद्गीता* को नहीं समझा जा सकता। यह तथाकथित विद्यालयी शिक्षा द्वारा सम्भव नहीं है। दुर्भाग्यवश जिन्हें अपनी उच्च शिक्षा का घमण्ड है, वे वैदिक साहित्य

के इतने प्रमाणों के होते हुए भी अपने इस दुराग्रह पर अड़े रहते हैं कि कृष्ण एक सामान्य व्यक्ति हैं।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः॥१४॥

सर्वम्—सब; **एतत्**—इस; **ऋतम्**—सत्य को; **मन्ये**—स्वीकार करता हूँ; **यत्**—जो; **माम्**—मुझको; **वदसि**—कहते हो; **केशव**—हे कृष्ण; **न**—कभी नहीं; **हि**—निश्चय ही; **ते**—आपके; **भगवन्**—हे भगवान्; **व्यक्तिम्**—स्वरूप को; **विदुः**—जान सकते हैं; **देवाः**—देवतागण; **न**—न तो; **दानवाः**—असुरगण।

हे कृष्ण! आपने मुझसे जो कुछ कहा है, उसे मैं पूर्णतया सत्य मानता हूँ। हे प्रभु! न तो देवतागण, न असुरगण ही आपके स्वरूप को समझ सकते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर अर्जुन इसकी पुष्टि करता है कि श्रद्धाहीन तथा आसुरी प्रकृति वाले लोग कृष्ण को नहीं समझ सकते। जब देवतागण तक उन्हें नहीं समझ पाते तो आधुनिक जगत् के तथाकथित विद्वानों का क्या कहना? भगवत्कृपा से अर्जुन समझ गया कि परम सत्य कृष्ण हैं और वे सम्पूर्ण हैं। अतः हमें अर्जुन के पथ का अनुसरण करना चाहिए। उसे *भगवद्गीता* का प्रमाण प्राप्त था। जैसा कि *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय में कहा गया है, *भगवद्गीता* के समझने की गुरु-परम्परा का ह्रास हो चुका था, अतः कृष्ण ने अर्जुन से उसकी पुनःस्थापना की, क्योंकि वे अर्जुन को अपना परम प्रिय सखा तथा भक्त समझते थे। अतः जैसा कि गीतोपनिषद् की भूमिका में हमने कहा है, *भगवद्गीता* का ज्ञान परम्परा-विधि से प्राप्त करना चाहिए। परम्परा-विधि के लुप्त होने पर उसके सूत्रपात के लिए अर्जुन को चुना गया। हमें चाहिए कि अर्जुन का हम अनुसरण करें, जिसने कृष्ण की सारी बातें जान लीं। तभी हम *भगवद्गीता* के सार को समझ सकेंगे और तभी कृष्ण को भगवान् रूप में जान सकेंगे।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते॥१५॥

स्वयम्—स्वयं; **एव**—निश्चय ही; **आत्मना**—अपने आप; **आत्मानम्**—अपने को; **वेत्थ**—जानते हो; **त्वम्**—आप; **पुरुष-उत्तम**—हे पुरुषोत्तम; **भूत-भावन**—हे सबके उद्गम; **भूत-ईश**—सभी जीवों के स्वामी; **देव-देव**—हे समस्त देवताओं के स्वामी; **जगत्-पते**—हे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के स्वामी।

हे परमपुरुष, हे सबके उद्गम, हे समस्त प्राणियों के स्वामी, हे देवों के देव, हे ब्रह्माण्ड के प्रभु! निस्सन्देह एकमात्र आप ही अपने को अपनी अन्तरंगाशक्ति से जानने वाले हैं।

तात्पर्य : परमेश्वर कृष्ण को वे ही जान सकते हैं, जो अर्जुन तथा उसके अनुयायियों की भाँति भक्ति करने के माध्यम से भगवान् के सम्पर्क में रहते हैं। आसुरी या नास्तिक प्रकृति वाले लोग कृष्ण को नहीं जान सकते। ऐसा मनोधर्म जो भगवान् से दूर ले जाए, परम पातक है और जो कृष्ण को नहीं जानता उसे *भगवद्गीता* की टीका करने का

प्रयत्न नहीं करना चाहिए। *भगवद्गीता* कृष्ण की वाणी है और चूँकि यह कृष्ण का तत्त्वविज्ञान है, अतः इसे कृष्ण से ही समझना चाहिए, जैसा कि अर्जुन ने किया। इसे नास्तिकों से ग्रहण नहीं करना चाहिए।

श्रीमद्भागवत में (१.२.११) कहा गया है कि—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

परम सत्य का अनुभव तीन प्रकार से किया जाता है—निराकार ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा भगवान्। अतः परम सत्य के ज्ञान की अन्तिम अवस्था भगवान् है। हो सकता है कि सामान्य व्यक्ति, अथवा ऐसा मुक्त पुरुष भी जिसने निराकार ब्रह्म अथवा अन्तर्यामी परमात्मा का साक्षात्कार किया है, भगवान् को न समझ पाये। अतः ऐसे व्यक्तियों को चाहिए कि वे भगवान् को *भगवद्गीता* के श्लोकों से जानने का प्रयास करें, जिन्हें स्वयं कृष्ण ने कहा है। कभी-कभी निर्विशेषवादी कृष्ण को भगवान् के रूप में या उनकी प्रामाणिकता को स्वीकार करते हैं। किन्तु अनेक मुक्त पुरुष कृष्ण को पुरुषोत्तम रूप में नहीं समझ पाते। इसीलिए अर्जुन उन्हें पुरुषोत्तम कहकर सम्बोधित करता है। इतने पर भी कुछ लोग यह नहीं समझ पाते कि कृष्ण समस्त जीवों के जनक हैं। इसीलिए अर्जुन उन्हें भूतभावन कहकर सम्बोधित करता है। यदि कोई उन्हें भूतभावन के रूप में समझ लेता है तो भी वह उन्हें परम नियन्ता के रूप में नहीं जान पाता। इसीलिए उन्हें यहाँ पर भूतेश या परम नियन्ता कहा गया है। यदि कोई भूतेश रूप में भी उन्हें समझ लेता है तो भी उन्हें समस्त देवताओं के उद्गम रूप में नहीं समझ पाता। इसीलिए उन्हें देवदेव, सभी देवताओं का पूजनीय देव, कहा गया है। यदि देवदेव रूप में भी उन्हें समझ लिया जाये तो वे प्रत्येक वस्तु के परम स्वामी के रूप में समझ में नहीं आते। इसीलिए यहाँ पर उन्हें जगत्पति कहा गया है। इस प्रकार अर्जुन की अनुभूति के आधार पर कृष्ण विषयक सत्य की स्थापना इस श्लोक में हुई है। हमें चाहिए कि कृष्ण को यथारूप में समझने के लिए हम अर्जुन के पदचिन्हों का अनुसरण करें।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि॥ १६॥

वक्तुम्—कहने के लिए; **अर्हसि**—योग्य हैं; **अशेषेण**—विस्तार में; **दिव्याः**—दैवी, अलौकिक; **हि**—निश्चय ही; **आत्म**—अपना; **विभूतयः**—ऐश्वर्य; **याभिः**—जिन; **विभूतिभिः**—ऐश्वर्यों से; **लोकान्**—समस्त लोकों को; **इमान्**—इन; **त्वम्**—आप; **व्याप्य**—व्याप्त होकर; **तिष्ठसि**—स्थित हैं।

कृपा करके विस्तारपूर्वक मुझे अपने उन दैवी ऐश्वर्यों को बतायें, जिनके द्वारा आप इन समस्त लोकों में व्याप्त हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा लगता है कि अर्जुन भगवान् सम्बन्धी अपने ज्ञान से पहले से सन्तुष्ट है। कृष्ण-कृपा से अर्जुन को व्यक्तिगत अनुभव, बुद्धि तथा ज्ञान और मनुष्य को इन साधनों से जो कुछ भी प्राप्त हो सकता है, वह सब प्राप्त है, तथा उसने कृष्ण को भगवान् के रूप में समझ रखा है। उसे किसी प्रकार का संशय नहीं है, तो भी वह

कृष्ण से अपनी सर्वव्यापकता की व्याख्या करने के लिए अनुरोध करता है। सामान्यजन तथा विशेषरूप से निर्विशेषवादी भगवान् की सर्वव्यापकता के विषय में अधिक विचारशील रहते हैं। अतः अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछता है कि वे अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा किस प्रकार सर्वव्यापी रूप में विद्यमान रहते हैं। हमें यह जानना चाहिए कि अर्जुन सामान्य लोगों के हित के लिए ही यह पूछ रहा है।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया॥ १७॥

कथम्—किस तरह, कैसे; **विद्याम् अहम्**—मैं जान सकूँ; **योगिन्**—हे परम योगी; **त्वाम्**—आपको; **सदा**—सदैव; **परिचिन्तयन्**—चिन्तन करता हुआ; **केषु**—किस; **केषु**—किस; **च**—भी; **भावेषु**—रूपों में; **चिन्त्यः असि**—आपका स्मरण किया जाता है; **भगवन्**—हे भगवान्; **मया**—मेरे द्वारा।

हे कृष्ण, हे परम योगी! मैं किस तरह आपका निरन्तर चिन्तन करूँ और आपको कैसे जानूँ? हे भगवान्! आपका स्मरण किन-किन रूपों में किया जाय?

तात्पर्य : जैसा कि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, भगवान् अपनी योगमाया से आच्छादित रहते हैं। केवल शरणागत भक्तजन ही उन्हें देख सकते हैं। अब अर्जुन को विश्वास हो चुका है कि उसके मित्र कृष्ण भगवान् हैं, किन्तु वह उस सामान्य विधि को जानना चाहता है, जिसके द्वारा सर्वसाधारण लोग भी उन्हें सर्वव्यापी रूप से समझ सकें। असुरों तथा नास्तिकों सहित सामान्यजन कृष्ण को नहीं जान पाते, क्योंकि भगवान् अपनी योगमाया शक्ति से आच्छादित रहते हैं। दूसरी बात यह है, कि ये प्रश्न जनसामान्य के लाभ हेतु पूछे जा रहे हैं। उच्चकोटि का भक्त केवल अपने ही ज्ञान के प्रति चिंतित नहीं रहता अपितु सारी मानव जाति के ज्ञान के लिए भी रहता है। अतः अर्जुन वैष्णव या भक्त होने के कारण अपने दयालु भाव से सामान्यजनों के लिए भगवान् के सर्वव्यापक रूप के ज्ञान का द्वार खोल रहा है। वह कृष्ण को जानबूझ कर *योगिन्* कहकर सम्बोधित करता है, क्योंकि वे योगमाया शक्ति के स्वामी हैं, जिसके कारण वे सामान्यजन के लिए अप्रकट या प्रकट होते हैं। सामान्यजन, जिसे कृष्ण के प्रति कोई प्रेम नहीं है, कृष्ण के विषय में निरन्तर नहीं सोच सकता। वह तो भौतिक चिन्तन करता है। अर्जुन इस संसार के भौतिकतावादी लोगों की चिन्तन-प्रवृत्ति के विषय में विचार कर रहा है। *केषु केषु च भावेषु* शब्द भौतिक प्रकृति के लिए प्रयुक्त हैं (भाव का अर्थ है भौतिक वस्तु)। चूँकि भौतिकतावादी लोग कृष्ण के आध्यात्मिक स्वरूप को नहीं समझ सकते, अतः उन्हें भौतिक वस्तुओं पर चित्त एकाग्र करने की तथा यह देखने का प्रयास करने की सलाह दी जाती है कि कृष्ण भौतिक रूपों में किस प्रकार प्रकट होते हैं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥ १८॥

विस्तरेण—विस्तार से; **आत्मनः**—अपनी; **योगम्**—योगशक्ति; **विभूतिम्**—ऐश्वर्य को; **च**—भी; **जन-अर्दन**—हे नास्तिकों का वध करने वाले; **भूयः**—फिर; **कथय**—कहें; **तृप्तिः**—तुष्टि; **हि**—निश्चय ही;

शृण्वतः—सुनते हुए; **न अस्ति**—नहीं है; **मे**—मेरी; **अमृतम्**—अमृत को।

हे जनार्दन! आप पुनः विस्तार से अपने ऐश्वर्य तथा योगशक्ति का वर्णन करें। मैं आपके विषय में सुनकर कभी तृप्त नहीं होता हूँ, क्योंकि जितना ही आपके विषय में सुनता हूँ, उतना ही आपके शब्द-अमृत को चखना चाहता हूँ।

तात्पर्य : इसी प्रकार का निवेदन नैमिषारण्य के शौनक आदि ऋषियों ने सूत गोस्वामी से किया था। यह निवेदन इस प्रकार है—

वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे।
यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥

"उत्तम स्तुतियों द्वारा प्रशंसित कृष्ण की दिव्य लीलाओं का निरन्तर श्रवण करते हुए कभी तृप्ति नहीं होती। किन्तु जिन्होंने कृष्ण से अपना दिव्य सम्बन्ध स्थापित कर लिया है वे पद पद पर भगवान् की लीलाओं के वर्णन का आनन्द लेते रहते हैं।" (*श्रीमद्भागवत* १.१.१९)। अतः अर्जुन कृष्ण के विषय में और विशेष रूप से उनके सर्वव्यापी रूप के बारे में सुनना चाहता है।

जहाँ तक *अमृतम्* की बात है, कृष्ण सम्बन्धी कोई भी आख्यान अमृत तुल्य है और इस अमृत की अनुभूति व्यवहार से ही की जा सकती है। आधुनिक कहानियाँ, कथाएँ तथा इतिहास कृष्ण की दिव्य लीलाओं से इसलिए भिन्न हैं क्योंकि इन संसारी कहानियों के सुनने से मन भर जाता है, किन्तु कृष्ण के विषय में सुनने से कभी थकान नहीं आती। यही कारण है कि सारे विश्व का इतिहास भगवान् के अवतारों की लीलाओं के सन्दर्भों से पटा हुआ है। हमारे पुराण विगत युगों के इतिहास हैं, जिनमें भगवान् के विविध अवतारों की लीलाओं का वर्णन है। इस प्रकार बारम्बार पढ़ने पर भी विषयवस्तु नवीन बनी रहती है।

श्रीभगवानुवाच

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे॥१९॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **हन्त**—हाँ; **ते**—तुमसे; **कथयिष्यामि**—कहूँगा; **दिव्याः**—दैवी; **हि**—निश्चय ही; **आत्म-विभूतयः**—अपने ऐश्वर्यों को; **प्राधान्यतः**—प्रमुख रूप से; **कुरुश्रेष्ठ**—हे कुरुश्रेष्ठ; **न अस्ति**—नहीं है; **अन्तः**—सीमा; **विस्तरस्य**—विस्तार की; **मे**—मेरे।

श्रीभगवान् ने कहा—हाँ, अब मैं तुमसे अपने मुख्य-मुख्य वैभवयुक्त रूपों का वर्णन करूँगा, क्योंकि हे अर्जुन! मेरा ऐश्वर्य असीम है।

तात्पर्य : कृष्ण की महानता तथा उनके ऐश्वर्य को समझ पाना सम्भव नहीं है। जीव की इन्द्रियाँ सीमित हैं, अतः उनसे कृष्ण के कार्य-कलापों की समग्रता को समझ पाना सम्भव नहीं है। तो भी भक्तजन कृष्ण को जानने का प्रयास करते हैं, किन्तु यह मानकर नहीं कि वे किसी विशेष समय में या जीवन-अवस्था में उन्हें पूरी तरह समझ सकेंगे। बल्कि कृष्ण के वृत्तान्त इतने आस्वाद्य हैं कि भक्तों को अमृत तुल्य प्रतीत होते हैं। इस प्रकार

भक्तगण उनका आनन्द उठाते हैं। भगवान् के ऐश्वर्यों तथा उनकी विविध शक्तियों की चर्चा चलाने में शुद्ध भक्तों को दिव्य आनन्द मिलता है, अतः वे उनको सुनते रहना और उनकी चर्चा चलाते रहना चाहते हैं। कृष्ण जानते हैं कि जीव उनके ऐश्वर्य के विस्तार को नहीं समझ सकते, फलतः वे अपनी विभिन्न शक्तियों के प्रमुख स्वरूपों का ही वर्णन करने के लिए राजी होते हैं। *प्राधान्यतः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हम भगवान् के प्रमुख विस्तारों को ही समझ पाते हैं, जबकि उनके स्वरूप अनन्त हैं। इन सबको समझ पाना सम्भव नहीं है। इस श्लोक में प्रयुक्त *विभूति* शब्द उन ऐश्वर्यों का सूचक है, जिनके द्वारा भगवान् सारे विश्व का नियन्त्रण करते हैं। *अमरकोश* में *विभूति* का अर्थ विलक्षण ऐश्वर्य है।

निर्विशेषवादी या सर्वेश्वरवादी न तो भगवान् के विलक्षण ऐश्वर्यों को समझ पाता है, न उनकी दैवी शक्तियों के स्वरूपों को। भौतिक जगत् में तथा वैकुण्ठ लोक में उनकी शक्तियाँ अनेक रूपों में फैली हुई हैं। अब कृष्ण उन रूपों को बताने जा रहे हैं, जो सामान्य व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से देख सकता है। इस प्रकार उनकी रंगबिरंगी शक्ति का आंशिक वर्णन किया गया है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च॥ २०॥

अहम्—मैं; **आत्मा**—आत्मा; **गुडाकेश**—हे अर्जुन; **सर्व-भूत**—समस्त जीव; **आशय-स्थितः**—हृदय में स्थित; **अहम्**—मैं; **आदिः**—उद्गम; **च**—भी; **मध्यम्**—मध्य; **च**—भी; **भूतानाम्**—समस्त जीवों का; **अन्तः**—अन्त; **एव**—निश्चय ही; **च**—तथा।

हे अर्जुन! मैं समस्त जीवों के हृदयों में स्थित परमात्मा हूँ। मैं ही समस्त जीवों का आदि, मध्य तथा अन्त हूँ।

तात्पर्य : इस श्लोक में अर्जुन को *गुडाकेश* कहकर सम्बोधित किया गया है जिसका अर्थ है, "निद्रा रूपी अन्धकार को जीतने वाला।" जो लोग अज्ञान रूपी अन्धकार में सोये हुए हैं, उनके लिए यह समझ पाना सम्भव नहीं है कि भगवान् किन-किन विधियों से इस लोक में तथा वैकुण्ठलोक में प्रकट होते हैं। अतः कृष्ण द्वारा अर्जुन के लिए इस प्रकार का सम्बोधन महत्त्वपूर्ण है। चूँकि अर्जुन ऐसे अन्धकार से ऊपर है, अतः भगवान् उससे विविध ऐश्वर्यों को बताने के लिए तैयार हो जाते हैं।

सर्वप्रथम कृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि वे अपने मूल विस्तार के कारण समग्र दृश्यजगत की आत्मा हैं। भौतिक सृष्टि के पूर्व भगवान् अपने मूल विस्तार के द्वारा पुरुष अवतार धारण करते हैं और उन्हीं से सब कुछ आरम्भ होता है। अतः वे प्रधान महत्तत्व की आत्मा हैं। इस सृष्टि का कारण महत्तत्त्व नहीं होता, वास्तव में महाविष्णु सम्पूर्ण भौतिक शक्ति या महत्तत्व में प्रवेश करते हैं। वे आत्मा हैं। जब महाविष्णु इन प्रकटीभूत ब्रह्माण्डों में प्रवेश करते हैं तो वे प्रत्येक जीव में पुनः परमात्मा के रूप में प्रकट होते हैं। हमें ज्ञात है कि जीव का शरीर आत्मा के स्फुलिंग की उपस्थिति के कारण विद्यमान रहता है। बिना आध्यात्मिक स्फुलिंग के शरीर विकसित नहीं हो सकता।

उसी प्रकार भौतिक जगत् का तब तक विकास नहीं होता, जब तक परमात्मा कृष्ण का प्रवेश नहीं हो जाता। जैसा कि *सुबल उपनिषद्* में कहा गया है—*प्रकृत्यादि सर्वभूतान्तर्यामी सर्वशेषी च नारायणः*—परमात्मा रूप में भगवान् समस्त प्रकटीभूत ब्रह्माण्डों में विद्यमान हैं।

श्रीमद्भागवत में तीनों पुरुष अवतारों का वर्णन हुआ है। *सात्वत तन्त्र* में भी इनका वर्णन मिलता है। *विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः*—भगवान् इस लोक में अपने तीन स्वरूपों को प्रकट करते हैं—*कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु* तथा *क्षीरोदकशायी विष्णु*। *ब्रह्मसंहिता* में (५.४७) महाविष्णु या कारणोदकशायी विष्णु का वर्णन मिलता है। *यः कारणार्णवजले भजति स्म योगनिद्राम्*—सर्वकारण कारण भगवान् कृष्ण महाविष्णु के रूप में कारणार्णव में शयन करते हैं। अतः भगवान् ही इस ब्रह्माण्ड के आदि कारण, पालक तथा समस्त शक्ति के अवसान हैं।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी॥ २१॥

आदित्यानाम्—आदित्यों में; **अहम्**—मैं हूँ; **विष्णुः**—परमेश्वर; **ज्योतिषाम्**—समस्त ज्योतियों में; **रविः**—सूर्य; **अंशुमान्**—किरणमाली, प्रकाशमान; **मरीचिः**—मरीचि; **मरुताम्**—मरुतों में; **अस्मि**—हूँ; **नक्षत्राणाम्**—तारों में; **अहम्**—मैं हूँ; **शशी**—चन्द्रमा।

मैं आदित्यों में विष्णु, प्रकाशों में तेजस्वी सूर्य, मरुतों में मरीचि तथा नक्षत्रों में चन्द्रमा हूँ।

तात्पर्य : आदित्य बारह हैं, जिनमें कृष्ण प्रधान हैं। आकाश में टिमटिमाते ज्योतिपुंजों में सूर्य मुख्य है और *ब्रह्मसंहिता* में तो सूर्य को भगवान् का तेजस्वी नेत्र कहा गया है। अन्तरिक्ष में पचास प्रकार के वायु प्रवहमान हैं, जिनमें से वायु अधिष्ठाता मरीचि कृष्ण का प्रतिनिधि है।

नक्षत्रों में रात्रि के समय चन्द्रमा सर्वप्रमुख नक्षत्र है, अतः वह कृष्ण का प्रतिनिधि है। इस श्लोक से प्रतीत होता है कि चन्द्रमा एक नक्षत्र है, अतः आकाश में टिमटिमाने वाले तारे भी सूर्यप्रकाश को परावर्तित करते हैं। वैदिक वाङ्मय में ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत अनेक सूर्यों के सिद्धान्त को स्वीकृति प्राप्त नहीं है। सूर्य एक है और सूर्य के प्रकाश से चन्द्रमा प्रकाशित है, तथा अन्य नक्षत्र भी। चूँकि *भगवद्गीता* से सूचित होता है कि चन्द्रमा एक नक्षत्र है, अतः टिमटिमाते तारे सूर्य न होकर चन्द्रमा के सदृश हैं।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना॥ २२॥

वेदानाम्—वेदों में; **साम-वेदः**—सामवेद; **अस्मि**—हूँ; **देवानाम्**—देवताओं में; **अस्मि**—हूँ; **वासवः**—स्वर्ग का राजा; **इन्द्रियाणाम्**—इन्द्रियों में; **मनः**—मन; **च**—भी; **अस्मि**—हूँ; **भूतानाम्**—जीवों में; **अस्मि**—हूँ; **चेतना**—प्राण, जीवनी शक्ति।

मैं वेदों में सामवेद हूँ, देवों में स्वर्ग का राजा इन्द्र हूँ, इन्द्रियों में मन हूँ, तथा समस्त जीवों में जीवनीशक्ति (चेतना) हूँ।

तात्पर्य : पदार्थ तथा जीव में यह अन्तर है कि पदार्थ में जीवों के समान चेतना नहीं होती, अतः यह चेतना परम तथा शाश्वत है। पदार्थों के संयोग से चेतना उत्पन्न नहीं की जा सकती।

रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्॥ २३॥

रुद्राणाम्—समस्त रुद्रों में; **शङ्करः**—शिवजी; **च**—भी; **अस्मि**—हूँ; **वित्त-ईशः**—देवताओं का कोषाध्यक्ष; **यक्ष-रक्षसाम्**—यक्षों तथा राक्षसों में; **वसूनाम्**—वसुओं में; **पावकः**—अग्नि; **च**—भी; **अस्मि**—हूँ; **मेरुः**—मेरु; **शिखरिणाम्**—समस्त पर्वतों में; **अहम्**—मैं हूँ।

मैं समस्त रुद्रों में शिव हूँ, यक्षों तथा राक्षसों में सम्पत्ति का देवता (कुबेर) हूँ, वसुओं में अग्नि हूँ और समस्त पर्वतों में मेरु हूँ।

तात्पर्य : ग्यारह रुद्रों में शंकर या शिव प्रमुख हैं। वे भगवान् के अवतार हैं, जिन पर ब्रह्माण्ड के तमोगुण का भार है। यक्षों तथा राक्षसों के नायक कुबेर हैं जो देवताओं के कोषाध्यक्ष तथा भगवान् के प्रतिनिधि हैं। मेरु पर्वत अपनी समृद्ध प्राकृत सम्पदा के लिए विख्यात है।

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः॥ २४॥

पुरोधसाम्—समस्त पुरोहितों में; **च**—भी; **मुख्यम्**—प्रमुख; **माम्**—मुझको; **विद्धि**—जानो; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **बृहस्पतिम्**—बृहस्पति; **सेनानीनाम्**—समस्त सेनानायकों में से; **अहम्**—मैं हूँ; **स्कन्दः**—कार्तिकेय; **सरसाम्**—समस्त जलाशयों में; **अस्मि**—मैं हूँ; **सागरः**—समुद्र।

हे अर्जुन! मुझे समस्त पुरोहितों में मुख्य पुरोहित बृहस्पति जानो। मैं ही समस्त सेनानायकों में कार्तिकेय हूँ और समस्त जलाशयों में समुद्र हूँ।

तात्पर्य : इन्द्र स्वर्ग का प्रमुख देवता है और स्वर्ग का राजा कहलाता है। जिस लोक में उसका शासन है वह इन्द्रलोक कहलाता है। बृहस्पति राजा इन्द्र के पुरोहित हैं और चूँकि इन्द्र समस्त राजाओं का प्रधान है, इसीलिए बृहस्पति समस्त पुरोहितों में मुख्य हैं। जैसे इन्द्र सभी राजाओं के प्रमुख हैं, इसी प्रकार पार्वती तथा शिव के पुत्र स्कन्द या कार्तिकेय समस्त सेनापतियों के प्रधान हैं। समस्त जलाशयों में समुद्र सबसे बड़ा है। कृष्ण के ये स्वरूप उनकी महानता के ही सूचक हैं।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः॥ २५॥

महा-ऋषीणाम्—महर्षियों में; **भृगुः**—भृगु; **अहम्**—मैं हूँ; **गिराम्**—वाणी में; **अस्मि**—हूँ; **एकम्**

अक्षरम्–प्रणव; **यज्ञानाम्**–समस्त यज्ञों में; **जप-यज्ञः**–कीर्तन, जप; **अस्मि**–हूँ; **स्थावराणाम्**–जड़ पदार्थों में; **हिमालयः**–हिमालय पर्वत।

मैं महर्षियों में भृगु हूँ, वाणी में दिव्य ओंकार हूँ, समस्त यज्ञों में पवित्र नाम का कीर्तन (जप) तथा समस्त अचलों में हिमालय हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा ने विभिन्न योनियों के विस्तार के लिए कई पुत्र उत्पन्न किये। इनमें से भृगु सबसे शक्तिशाली मुनि थे। समस्त दिव्य ध्वनियों में ओंकार कृष्ण का रूप है। समस्त यज्ञों में हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे–का जप कृष्ण का सर्वाधिक शुद्ध रूप है। कभी-कभी पशु यज्ञ की भी संस्तुति की जाती है, किन्तु *हरे कृष्ण* यज्ञ में हिंसा का प्रश्न ही नहीं उठता। यह सबसे सरल तथा शुद्धतम यज्ञ है। समस्त जगत में जो कुछ शुभ है, वह कृष्ण का रूप है। अतः संसार का सबसे बड़ा पर्वत हिमालय भी उन्हीं का स्वरूप है। पिछले श्लोक में मेरु का उल्लेख हुआ है, परन्तु मेरु तो कभी-कभी सचल होता है, लेकिन हिमालय कभी चल नहीं है। अतः हिमालय मेरु से बढ़कर है।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः॥ २६॥

अश्वत्थः–अश्वत्थ वृक्ष; **सर्व-वृक्षाणाम्**–सारे वृक्षों में; **देव-ऋषीणाम्**–समस्त देवर्षियों में; **च**–तथा; **नारदः**–नारद; **गन्धर्वाणाम्**–गन्धर्वलोक के वासियों में; **चित्ररथः**–चित्ररथ; **सिद्धानाम्**–समस्त सिद्धि प्राप्त हुओं में; **कपिलःमुनिः**–कपिल मुनि।

मैं समस्त वृक्षों में अश्वत्थ वृक्ष हूँ और देवर्षियों में नारद हूँ। मैं गन्धर्वों में चित्ररथ हूँ और सिद्ध पुरुषों में कपिल मुनि हूँ।

तात्पर्य : अश्वत्थ वृक्ष सबसे ऊँचा तथा सुन्दर वृक्ष है, जिसे भारत में लोग नित्यप्रति नियमपूर्वक पूजते हैं। देवताओं में नारद विश्वभर के सबसे बड़े भक्त माने जाते हैं और पूजित होते हैं। इस प्रकार वे भक्त के रूप में कृष्ण के स्वरूप हैं। गन्धर्वलोक ऐसे निवासियों से पूर्ण है, जो बहुत अच्छा गाते हैं, जिनमें से चित्ररथ सर्वश्रेष्ठ गायक है। सिद्ध पुरुषों में से देवहूति के पुत्र कपिल मुनि कृष्ण के प्रतिनिधि हैं। वे कृष्ण के अवतार माने जाते हैं। इनका दर्शन *भागवत* में उल्लिखित है। बाद में भी एक अन्य कपिल प्रसिद्ध हुए, किन्तु वे नास्तिक थे, अतः इन दोनों में महान अन्तर है।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम्॥ २७॥

उच्चैःश्रवसम्–उच्चैःश्रवा; **अश्वानाम्**–घोड़ों में; **विद्धि**–जानो; **माम्**–मुझको; **अमृत-उद्भवम्**–समुद्र मन्थन से उत्पन्न; **ऐरावतम्**–ऐरावत; **गज-इन्द्राणाम्**–मुख्य हाथियों में; **नराणाम्**–मनुष्यों में; **च**–तथा; **नर-अधिपम्**–राजा।

घोड़ों में मुझे उच्चैःश्रवा जानो, जो अमृत के लिए समुद्र मन्थन के समय उत्पन्न

हुआ था। गजराजों में मैं ऐरावत हूँ तथा मनुष्यों में राजा हूँ।

तात्पर्य : एक बार देवों तथा असुरों ने समुद्र-मन्थन में भाग लिया। इस मन्थन से अमृत तथा विष प्राप्त हुए। विष को तो शिवजी ने पी लिया, किन्तु अमृत के साथ अनेक जीव उत्पन्न हुए, जिनमें उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा भी था। इसी अमृत के साथ एक अन्य पशु ऐरावत नामक हाथी भी उत्पन्न हुआ था। चूँकि ये दोनों पशु अमृत के साथ उत्पन्न हुए थे, अतः इनका विशेष महत्त्व है और ये कृष्ण के प्रतिनिधि हैं।

मनुष्यों में राजा कृष्ण का प्रतिनिधि है, क्योंकि कृष्ण ब्रह्माण्ड के पालक हैं और अपने दैवी गुणों के कारण नियुक्त किये गये राजा भी अपने राज्यों के पालनकर्ता होते हैं। महाराज युधिष्ठिर, महाराज परीक्षित तथा भगवान् राम जैसे राजा अत्यन्त धर्मात्मा थे, जिन्होंने अपनी प्रजा का सदैव कल्याण सोचा। वैदिक साहित्य में राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया है। किन्तु इस युग में धर्म के ह्रास होने से राजतन्त्र का पतन हुआ और अन्ततः विनाश हो गया है। किन्तु यह समझना चाहिए कि भूतकाल में लोग धर्मात्मा राजाओं के अधीन रहकर अधिक सुखी थे।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः॥ २८॥

आयुधानाम्—हथियारों में; **अहम्**—मैं हूँ; **वज्रम्**—वज्र; **धेनूनाम्**—गायों में; **अस्मि**—हूँ; **काम-धुक्**—सुरभि गाय; **प्रजनः**—सन्तान, उत्पत्ति का कारण; **च**—तथा; **अस्मि**—हूँ; **कन्दर्पः**—कामदेव; **सर्पाणाम्**—सर्पों में; **अस्मि**—हूँ; **वासुकिः**—वासुकि।

मैं हथियारों में वज्र हूँ, गायों में सुरभि, सन्तति उत्पत्ति के कारणों में प्रेम का देवता कामदेव तथा सर्पों में वासुकि हूँ।

तात्पर्य : वज्र सचमुच अत्यन्त बलशाली हथियार है और यह कृष्ण की शक्ति का प्रतीक है। वैकुण्ठलोक में स्थित कृष्णलोक की गाएँ किसी भी समय दुही जा सकती हैं और उनसे जो जितना चाहे उतना दूध प्राप्त कर सकता है। निस्सन्देह इस जगत् में ऐसी गाएँ नहीं मिलतीं, किन्तु कृष्णलोक में इनके होने का उल्लेख है। भगवान् ऐसी अनेक गाएँ रखते हैं, जिन्हें सुरभि कहा जाता है। कहा जाता है कि भगवान् ऐसी गायों के चराने में व्यस्त रहते हैं। कन्दर्प काम वासना है, जिससे अच्छे पुत्र उत्पन्न होते हैं। कभी-कभी केवल इन्द्रियतृप्ति के लिए संभोग किया जाता है, किन्तु ऐसा संभोग कृष्ण का प्रतीक नहीं है। अच्छी सन्तान की उत्पत्ति के लिए किया गया संभोग कन्दर्प कहलाता है और वह कृष्ण का प्रतिनिधि होता है।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्॥ २९॥

अनन्तः—अनन्त; **च**—भी; **अस्मि**—हूँ; **नागानाम्**—फणों वाले सर्पों में; **वरुणः**—जल के अधिष्ठाता देवता; **यादसाम्**—समस्त जलचरों में; **अहम्**—मैं हूँ; **पितॄणाम्**—पितरों में; **अर्यमा**—अर्यमा; **च**—भी; **अस्मि**—हूँ; **यमः**—मृत्यु का नियामक; **संयमताम्**—समस्त नियमनकर्ताओं में; **अहम्**—मैं हूँ।

अनेक फणों वाले नागों में मैं अनन्त हूँ और जलचरों में वरुणदेव हूँ। मैं पितरों में अर्यमा हूँ तथा नियमों के निर्वाहकों में मैं मृत्युराज यम हूँ।

तात्पर्य : अनेक फणों वाले नागों में अनन्त सबसे प्रधान हैं और इसी प्रकार जलचरों में वरुण देव प्रधान हैं। ये दोनों कृष्ण का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार पितृलोक के अधिष्ठाता अर्यमा हैं जो कृष्ण के प्रतिनिधि हैं। ऐसे अनेक जीव हैं जो दुष्टों को दण्ड देते हैं, किन्तु इनमें यम प्रमुख हैं। यम पृथ्वीलोक के निकटवर्ती लोक में रहते हैं। मृत्यु के बाद पापी लोगों को वहाँ ले जाया जाता है और यम उन्हें तरह-तरह का दण्ड देने की व्यवस्था करते हैं।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्॥ ३०॥

प्रह्लादः—प्रह्लाद; **च**—भी; **अस्मि**—हूँ; **दैत्यानाम्**—असुरों में; **कालः**—काल; **कलयताम्**—दमन करने वालों में; **अहम्**—मैं हूँ; **मृगाणाम्**—पशुओं में; **च**—तथा; **मृग-इन्द्रः**—सिंह; **अहम्**—मैं हूँ; **वैनतेयः**—गरुड़; **च**—भी; **पक्षिणाम्**—पक्षियों में।

दैत्यों में मैं भक्तराज प्रह्लाद हूँ, दमन करने वालों में काल हूँ, पशुओं में सिंह हूँ, तथा पक्षियों में गरुड़ हूँ।

तात्पर्य : दिति तथा अदिति दो बहनें थीं। अदिति के पुत्र आदित्य कहलाते हैं और दिति के दैत्य। सारे आदित्य भगवद्भक्त निकले और सारे दैत्य नास्तिक। यद्यपि प्रह्लाद का जन्म दैत्य कुल में हुआ था, किन्तु वे बचपन से ही परम भक्त थे। अपनी भक्ति तथा दैवी गुण के कारण वे कृष्ण के प्रतिनिधि माने जाते हैं।

दमन के अनेक नियम हैं, किन्तु काल इस संसार की हर वस्तु को क्षीण कर देता है, अतः वह कृष्ण का प्रतिनिधित्व कर रहा है। पशुओं में सिंह सबसे शक्तिशाली तथा हिंस्र होता है और पक्षियों के लाखों प्रकारों में भगवान् विष्णु का वाहन गरुड़ सबसे महान है।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी॥ ३१॥

पवनः—वायु; **पवताम्**—पवित्र करने वालों में; **अस्मि**—हूँ; **रामः**—राम; **शस्त्र-भृताम्**—शस्त्रधारियों में; **अहम्**—मैं; **झषाणाम्**—मछलियों में; **मकरः**—मगर; **च**—भी; **अस्मि**—हूँ; **स्रोतसाम्**—प्रवहमान नदियों में; **अस्मि**—हूँ; **जाह्नवी**—गंगा नदी।

समस्त पवित्र करने वालों में मैं वायु हूँ, शस्त्रधारियों में राम, मछलियों में मगर तथा नदियों में गंगा हूँ।

तात्पर्य : समस्त जलचरों में मगर सबसे बड़ा और मनुष्य के लिए सबसे घातक होता है। अतः मगर कृष्ण का प्रतिनिधित्व करता है।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्॥ ३२॥

सर्गाणाम्—सम्पूर्ण सृष्टियों का; **आदिः**—प्रारम्भ; **अन्तः**—अन्त; **च**—तथा; **मध्यम्**—मध्य; **च**—भी; **एव**—निश्चय ही; **अहम्**—मैं हूँ; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **अध्यात्म-विद्या**—अध्यात्मज्ञान; **विद्यानाम्**—विद्याओं में; **वादः**—स्वाभाविक निर्णय; **प्रवदताम्**—तर्कों में; **अहम्**—मैं हूँ।

हे अर्जुन! मैं समस्त सृष्टियों का आदि, मध्य और अन्त हूँ। मैं समस्त विद्याओं में अध्यात्म विद्या हूँ और तर्कशास्त्रियों में मैं निर्णायक सत्य हूँ।

तात्पर्य : सृष्टियों में सर्वप्रथम समस्त भौतिक तत्त्वों की सृष्टि की जाती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, यह दृश्यजगत महाविष्णु 'गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु द्वारा उत्पन्न और संचालित है। बाद में इसका संहार शिवजी द्वारा किया जाता है। ब्रह्मा गौण स्रष्टा हैं। सृजन, पालन तथा संहार करने वाले ये सारे अधिकारी परमेश्वर के भौतिक गुणों के अवतार हैं। अतः वे ही समस्त सृष्टि के आदि, मध्य तथा अन्त हैं।

उच्च विद्या के लिए ज्ञान के अनेक ग्रंथ हैं, यथा चारों वेद, उनके छहों वेदांग, वेदान्त सूत्र, तर्क ग्रंथ, धर्मग्रंथ, पुराण। इस प्रकार कुल चौदह प्रकार के ग्रंथ हैं। इनमें से अध्यात्म विद्या सम्बन्धी ग्रंथ, विशेष रूप से वेदान्त सूत्र, कृष्ण का स्वरूप है।

तर्कशास्त्रियों में विभिन्न प्रकार के तर्क होते रहते हैं। प्रमाण द्वारा तर्क की पुष्टि, जिससे विपक्ष का भी समर्थन हो, *जल्प* कहलाता है। प्रतिद्वन्द्वी को हराने का प्रयास मात्र *वितण्डा* है, किन्तु वास्तविक निर्णय *वाद* कहलाता है। यह निर्णयात्मक सत्य कृष्ण का स्वरूप है।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः॥ ३३॥

अक्षराणाम्—अक्षरों में; **अ-कारः**—अकार अर्थात् पहला अक्षर; **अस्मि**—हूँ; **द्वन्द्वः**—द्वन्द्व समास; **सामासिकस्य**—सामासिक शब्दों में; **च**—तथा; **अहम्**—मैं हूँ; **एव**—निश्चय ही; **अक्षयः**—शाश्वत; **कालः**—काल, समय; **धाता**—स्रष्टा; **अहम्**—मैं; **विश्वतः-मुखः**—ब्रह्मा।

अक्षरों में मैं अकार हूँ और समासों में द्वन्द्व समास हूँ। मैं शाश्वत काल भी हूँ और स्रष्टाओं में ब्रह्मा हूँ।

तात्पर्य : अ-कार, अर्थात् संस्कृत अक्षर माला का प्रथम अक्षर (अ) वैदिक साहित्य का शुभारम्भ है। अकार के बिना कोई स्वर उच्चरित नहीं हो सकता, इसीलिए यह आदि स्वर है। संस्कृत में कई तरह के सामासिक शब्द होते हैं, जिनमें से राम-कृष्ण जैसे दोहरे शब्द द्वन्द्व कहलाते हैं। इस समास में राम तथा कृष्ण अपने उसी रूप में हैं, अतः यह समास द्वन्द्व कहलाता है।

समस्त मारने वालों में काल सर्वोपरि है, क्योंकि यह सबों को मारता है। काल कृष्णस्वरूप है, क्योंकि समय आने पर प्रलयाग्नि से सब कुछ लय हो जाएगा।

सृजन करने वाले जीवों में चतुर्मुख ब्रह्मा प्रधान हैं, अतः वे भगवान् कृष्ण के प्रतीक हैं।

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम्।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥

मृत्युः—मृत्यु; **सर्व-हरः**—सर्वभक्षी; **च**—भी; **अहम्**—मैं हूँ; **उद्भवः**—सृष्टि; **च**—भी; **भविष्यताम्**—भावी जगतों में; **कीर्तिः**—यश; **श्रीः**—ऐश्वर्य या सुन्दरता; **वाक्**—वाणी; **च**—भी; **नारीणाम्**—स्त्रियों में; **स्मृतिः**—स्मृति, स्मरणशक्ति; **मेधा**—बुद्धि; **धृतिः**—दृढ़ता; **क्षमा**—क्षमा, धैर्य।

मैं सर्वभक्षी मृत्यु हूँ और मैं ही आगे होने वालों को उत्पन्न करने वाला हूँ। स्त्रियों में मैं कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेघा, धृति तथा क्षमा हूँ।

तात्पर्य : ज्योंही मनुष्य जन्म लेता है, वह क्षण-क्षण मरता रहता है। इस प्रकार मृत्यु समस्त जीवों का हर क्षण भक्षण करती रहती है, किन्तु अन्तिम आघात मृत्यु कहलाता है। यह मृत्यु कृष्ण ही है। जहाँ तक भावी विकास का सम्बन्ध है, सारे जीवों में छह परिवर्तन होते हैं—वे जन्मते हैं, बढ़ते हैं, कुछ काल तक संसार में रहते हैं, सन्तान उत्पन्न करते हैं, क्षीण होते हैं और अन्त में समाप्त हो जाते हैं। इन छहों परिवर्तनों में पहला गर्भ से मुक्ति है और यह कृष्ण है। प्रथम उत्पत्ति ही भावी कार्यों का शुभारम्भ है।

यहाँ जिन सात ऐश्वर्यों का उल्लेख है, वे स्त्रीवाचक हैं—कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति तथा क्षमा। यदि किसी व्यक्ति के पास ये सभी, या इनमें से कुछ ही होते हैं, तो वह यशस्वी होता है। यदि कोई मनुष्य धर्मात्मा है, तो वह यशस्वी होता है। संस्कृत पूर्ण भाषा है, अतः यह अत्यन्त यशस्विनी है। यदि कोई पढ़ने के बाद विषय को स्मरण रख सकता है तो उसे उत्तम स्मृति मिली होती है। केवल अनेक ग्रंथों को पढ़ना पर्याप्त नहीं होता, किन्तु उन्हें समझकर आवश्यकता पड़ने पर उनका प्रयोग मेधा या बुद्धि कहलाती है। यह दूसरा ऐश्वर्य है। अस्थिरता पर विजय पाना धृति या दृढ़ता है। पूर्णतया योग्य होकर यदि कोई विनीत भी हो और सुख तथा दुख में समभाव से रहे तो यह ऐश्वर्य क्षमा कहलाता है।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥

बृहत्-साम—बृहत्साम; **तथा**—भी; **साम्नाम्**—सामवेद के गीतों में; **गायत्री**—गायत्री मंत्र; **छन्दसाम्**—समस्त छन्दों में; **अहम्**—मैं हूँ; **मासानाम्**—महीनों में; **मार्ग-शीर्षः**—नवम्बर-दिसम्बर (अगहन) का महीना; **अहम्**—मैं हूँ; **ऋतूनाम्**—समस्त ऋतुओं में; **कुसुम-आकरः**—वसन्त।

मैं सामवेद के गीतों में बृहत्साम हूँ और छन्दों में गायत्री हूँ। समस्त महीनों में मैं मार्गशीर्ष (अगहन) तथा समस्त ऋतुओं में फूल खिलाने वाली वसन्त ऋतु हूँ।

तात्पर्य : जैसा कि भगवान् स्वयं बता चुके हैं, वे समस्त वेदों में सामवेद हैं। सामवेद विभिन्न देवताओं द्वारा गाये जाने वाले गीतों का संग्रह है। इन गीतों में से एक बृहत्साम है जिसकी ध्वनि सुमधुर है और जो अर्धरात्रि में गाया जाता है।

संस्कृत में काव्य के निश्चित विधान हैं। इसमें लय तथा ताल बहुत सी आधुनिक कविता की तरह मनमाने नहीं होते। ऐसे नियमित काव्य में गायत्री मन्त्र, जिसका जप केवल सुपात्र ब्राह्मणों द्वारा ही होता है, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। गायत्री मन्त्र का उल्लेख *श्रीमद्भागवत* में भी हुआ है। चूँकि गायत्री मन्त्र विशेषतया ईश्वर-साक्षात्कार के ही निमित्त है, इसीलिए यह परमेश्वर का स्वरूप है। यह मन्त्र अध्यात्म में उन्नत लोगों के लिए है। जब इसका जप करने में उन्हें सफलता मिल जाती है, तो वे भगवान् के दिव्य धाम में प्रविष्ट होते हैं। गायत्री मन्त्र के जप के लिए मनुष्य को पहले सिद्ध पुरुष के गुण या भौतिक प्रकृति के नियमों के अनुसार सात्त्विक गुण प्राप्त करने होते हैं। वैदिक सभ्यता में गायत्री मन्त्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और उसे ब्रह्म का नाद अवतार माना जाता है। ब्रह्मा इसके गुरु हैं और शिष्य-परम्परा द्वारा यह उनसे आगे बढ़ता रहा है।

मासों में अगहन (मार्गशीर्ष) मास सर्वोत्तम माना जाता है क्योंकि भारत में इस मास में खेतों से अन्न एकत्र किया जाता है और लोग अत्यन्त प्रसन्न रहते हैं। निस्सन्देह वसन्त ऐसी ऋतु है जिसका विश्वभर में सम्मान होता है क्योंकि यह न तो बहुत गर्म रहती है, न सर्द और इसमें वृक्षों में फूल आते हैं। वसन्त में कृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित अनेक उत्सव भी मनाये जाते हैं, अतः इसे समस्त ऋतुओं में से सर्वाधिक उल्लासपूर्ण माना जाता है और यह भगवान् कृष्ण की प्रतिनिधि है।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्॥ ३६॥

द्यूतम्–जुआ; **छलयताम्**–समस्त छलियों या धूर्तों में; **अस्मि**–हूँ; **तेजः**–तेज, चमकदमक; **तेजस्विनाम्**–तेजस्वियों में; **अहम्**–मैं हूँ; **जयः**–विजय; **अस्मि**–हूँ; **व्यवसायः**–जोखिम या साहस; **अस्मि**–हूँ; **सत्त्वम्**–बल; **सत्त्व-वताम्**–बलवानों का; **अहम्**–मैं हूँ।

मैं छलियों में जुआ हूँ और तेजस्वियों में तेज हूँ। मैं विजय हूँ, साहस हूँ और बलवानों का बल हूँ।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार के छलियाँ हैं। समस्त छल-कपट कर्मों में द्यूत-क्रीड़ा (जुआ) सर्वोपरि है और यह कृष्ण का प्रतीक है। परमेश्वर के रूप में कृष्ण किसी भी सामान्य पुरुष की अपेक्षा अधिक कपटी (छल करने वाले) हो सकते हैं। यदि कृष्ण किसी से छल करने की सोच लेते हैं तो कोई उनसे पार नहीं पा सकता। उनकी महानता एकांगी न होकर सर्वांगी है।

वे विजयी पुरुषों की विजय हैं। वे तेजस्वियों के तेज हैं। साहसी तथा कर्मठों में वे सर्वाधिक साहसी तथा कर्मठ हैं। वे बलवानों में सर्वाधिक बलवान हैं। जब कृष्ण इस धराधाम में विद्यमान थे तो कोई भी उन्हें बल में हरा नहीं सकता था। यहाँ तक कि अपने बाल्यकाल में उन्होंने गोवर्धन पर्वत उठा लिया था। उन्हें न तो कोई छल में हरा सकता है, न तेज में, न विजय में, न साहस तथा बल में।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः॥ ३७॥

वृष्णीनाम्—वृष्णि कुल में; **वासुदेवः**—द्वारकावासी कृष्ण; **अस्मि**—हूँ; **पाण्डवानाम्**—पाण्डवों में; **धनञ्जयः**—अर्जुन; **मुनीनाम्**—मुनियों में; **अपि**—भी; **अहम्**—मैं हूँ; **व्यासः**—व्यासदेव, समस्त वेदों के संकलनकर्ता; **कवीनाम्**—महान विचारकों में; **उशना**—उशना, शुक्राचार्य; **कविः**—विचारक।

मैं वृष्णिवंशियों में वासुदेव और पाण्डवों में अर्जुन हूँ। मैं समस्त मुनियों में व्यास तथा महान विचारकों में उशना हूँ।

तात्पर्य : कृष्ण आदि भगवान् हैं और बलदेव कृष्ण के निकटतम अंश-विस्तार हैं। कृष्ण तथा बलदेव दोनों ही वसुदेव के पुत्र रूप में उत्पन्न हुए, अतः दोनों को वासुदेव कहा जा सकता है। दूसरी दृष्टि से चूँकि कृष्ण कभी वृन्दावन नहीं त्यागते, अतः उनके जितने भी रूप अन्यत्र पाये जाते हैं वे उनके विस्तार हैं। वासुदेव कृष्ण के निकटतम अंश-विस्तार हैं, अतः वासुदेव कृष्ण से भिन्न नहीं हैं। अतः इस श्लोक में आगत *वासुदेव* शब्द का अर्थ बलदेव या बलराम माना जाना चाहिए क्योंकि वे समस्त अवतारों के उद्गम हैं और इस प्रकार वे वासुदेव के एकमात्र उद्गम हैं। भगवान् के निकटतम अंशों को स्वांश (व्यक्तिगत या स्वकीय अंश) कहते हैं और अन्य प्रकार के भी अंश हैं, जो विभिन्नांश (पृथकीकृत अंश) कहलाते हैं।

पाण्डुपुत्रों में अर्जुन धनञ्जय नाम से विख्यात है। वह समस्त पुरुषों में श्रेष्ठतम है, अतः कृष्णस्वरूप है। मुनियों अर्थात् वैदिक ज्ञान में पटु विद्वानों में व्यास सबसे बड़े हैं, क्योंकि उन्होंने कलियुग में लोगों को समझाने के लिए वैदिक ज्ञान को अनेक प्रकार से प्रस्तुत किया। और व्यास को कृष्ण के एक अवतार भी माने जाते हैं। अतः वे कृष्णस्वरूप हैं। कविगण किसी विषय पर गम्भीरता से विचार करने में समर्थ होते हैं। कवियों में उशना अर्थात् शुक्राचार्य असुरों के गुरु थे, वे अत्यधिक बुद्धिमान तथा दूरदर्शी राजनेता थे। इस प्रकार शुक्राचार्य कृष्ण के ऐश्वर्य के दूसरे स्वरूप हैं।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्॥ ३८॥

दण्डः—दण्ड; **दमयताम्**—दमन के समस्त साधनों में से; **अस्मि**—हूँ; **नीतिः**—सदाचार; **अस्मि**—हूँ; **जिगीषताम्**—विजय की आकांक्षा करने वालों में; **मौनम्**—चुप्पी, मौन; **च**—तथा; **एव**—भी; **अस्मि**—हूँ; **गुह्यानाम्**—रहस्यों में; **ज्ञानम्**—ज्ञान; **ज्ञान-वताम्**—ज्ञानियों में; **अहम्**—मैं हूँ।

अराजकता को दमन करने वाले समस्त साधनों में से मैं दण्ड हूँ और जो विजय के आकांक्षी हैं उनकी मैं नीति हूँ। रहस्यों में मैं मौन हूँ और बुद्धिमानों में ज्ञान हूँ।

तात्पर्य : वैसे तो दमन के अनेक साधन हैं, किन्तु इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण है दुष्टों का नाश। जब दुष्टों को दण्डित किया जाता है तो दण्ड देने वाला कृष्णस्वरूप होता है। किसी भी क्षेत्र में विजय की आकांक्षा करने वाले में नीति की ही विजय होती है। सुनने,

सोचने तथा ध्यान करने की गोपनीय क्रियाओं में मौन धारण ही सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि मौन रहने से जल्दी उन्नति मिलती है। ज्ञानी व्यक्ति वह है, जो पदार्थ तथा आत्मा में, भगवान् की परा तथा अपरा शक्तियों में भेद कर सके। ऐसा ज्ञान साक्षात् कृष्ण है।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ ३९॥

यत्—जो; **च**—भी; **अपि**—हो सकता है; **सर्व-भूतानाम्**—समस्त सृष्टियों में; **बीजम्**—बीज; **तत्**—वह; **अहम्**—मैं हूँ; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **न**—नहीं; **तत्**—वह; **अस्ति**—है; **विना**—रहित; **यत्**—जो; **स्यात्**—हो; **मया**—मुझसे; **भूतम्**—जीव; **चर-अचरम्**—जंगम तथा जड़।

यही नहीं, हे अर्जुन! मैं समस्त सृष्टि का जनक बीज हूँ। ऐसा चर तथा अचर कोई भी प्राणी नहीं है, जो मेरे बिना रह सके।

तात्पर्य : प्रत्येक वस्तु का कारण होता है और इस सृष्टि का कारण या बीज कृष्ण हैं। कृष्ण की शक्ति के बिना कुछ भी नहीं रह सकता, अतः उन्हें सर्वशक्तिमान कहा जाता है। उनकी शक्ति के बिना चर तथा अचर, किसी भी जीव का अस्तित्व नहीं रह सकता। जो कुछ कृष्ण की शक्ति पर आधारित नहीं है, वह माया है अर्थात् "वह जो नहीं है।"

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया॥ ४०॥

न—न तो; **अन्तः**—सीमा; **अस्ति**—है; **मम**—मेरे; **दिव्यानाम्**—दिव्य; **विभूतीनाम्**—ऐश्वर्यों की; **परन्तप**—हे शत्रुओं के विजेता; **एषः**—यह सब; **तु**—लेकिन; **उद्देशतः**—उदाहरणस्वरूप; **प्रोक्तः**—कहे गये; **विभूतेः**—ऐश्वर्यों के; **विस्तरः**—विशद वर्णन; **मया**—मेरे द्वारा।

हे परन्तप! मेरी दैवी विभूतियों का अन्त नहीं है। मैंने तुमसे जो कुछ कहा, वह तो मेरी अनन्त विभूतियों का संकेत मात्र है।

तात्पर्य : जैसा कि वैदिक साहित्य में कहा गया है यद्यपि परमेश्वर की शक्तियाँ तथा विभूतियाँ अनेक प्रकार से जानी जाती हैं, किन्तु इन विभूतियों का कोई अन्त नहीं है, अतएव समस्त विभूतियों तथा शक्तियों का वर्णन कर पाना सम्भव नहीं है। अर्जुन की जिज्ञासा को शान्त करने के लिए केवल थोड़े से उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ ४१॥

यत् यत्—जो-जो; **विभूति**—ऐश्वर्य; **मत्**—युक्त; **सत्त्वम्**—अस्तित्व; **श्री-मत्**—सुन्दर; **ऊर्जितम्**—तेजस्वी; **एव**—निश्चय ही; **वा**—अथवा; **तत् तत्**—वे-वे; **एव**—निश्चय ही; **अवगच्छ**—जानो; **त्वम्**—तुम; **मम**—मेरे; **तेजः**—तेज का; **अंश**—भाग, अंश से; **सम्भवम्**—उत्पन्न।

तुम जान लो कि सारा ऐश्वर्य, सौन्दर्य तथा तेजस्वी सृष्टियाँ मेरे तेज के एक स्फुलिंग मात्र से उद्भूत हैं।

तात्पर्य : किसी भी तेजस्वी या सुन्दर सृष्टि को, चाहे वह अध्यात्म जगत में हो या इस जगत में, कृष्ण की विभूति का अंश रूप ही मानना चाहिए। किसी भी अलौकिक तेजयुक्त वस्तु को कृष्ण की विभूति समझना चाहिए।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥ ४२॥

अथवा—या; **बहुना**—अनेक; **एतेन**—इस प्रकार से; **किम्**—क्या; **ज्ञातेन**—जानने से; **तव**—तुम्हारा; **अर्जुन**—हे अर्जुन; **विष्टभ्य**—व्याप्त होकर; **अहम्**—मैं; **इदम्**—इस; **कृत्स्नम्**—सम्पूर्ण; **एक**—एक; **अंशेन**—अंश के द्वारा; **स्थितः**—स्थित हूँ; **जगत्**—ब्रह्माण्ड में।

किन्तु हे अर्जुन! इस सारे विशद ज्ञान की आवश्यकता क्या है? मैं तो अपने एक अंश मात्र से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर इसको धारण करता हूँ।

तात्पर्य : परमात्मा के रूप में ब्रह्माण्ड की समस्त वस्तुओं में प्रवेश कर जाने के कारण परमेश्वर का सारे भौतिक जगत में प्रतिनिधित्व है। भगवान् यहाँ पर अर्जुन को बताते हैं कि यह जानने की कोई सार्थकता नहीं है कि सारी वस्तुएँ किस प्रकार अपने पृथक-पृथक ऐश्वर्य तथा उत्कर्ष में स्थित हैं। उसे इतना ही जान लेना चाहिए कि सारी वस्तुओं का अस्तित्व इसलिए है क्योंकि कृष्ण उनमें परमात्मा रूप में प्रविष्ट हैं। ब्रह्मा जैसे विराट जीव से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक इसीलिए विद्यमान हैं क्योंकि भगवान् उन सबमें प्रविष्ट होकर उनका पालन करते हैं।

एक ऐसी धार्मिक संस्था (मिशन) भी है जो यह निरन्तर प्रचार करती है कि किसी भी देवता की पूजा करने से भगवान् या परम लक्ष्य की प्राप्ति होगी। किन्तु यहाँ पर देवताओं की पूजा को पूर्णतया निरुत्साहित किया गया है, क्योंकि ब्रह्मा तथा शिव जैसे महानतम देवता भी परमेश्वर की विभूति के अंशमात्र हैं। वे समस्त उत्पन्न जीवों के उद्गम हैं और उनसे बढ़कर कोई भी नहीं है। वे *असमोर्ध्व* हैं जिसका अर्थ है कि न तो कोई उनसे श्रेष्ठ है, न उनके तुल्य। *पद्मपुराण* में कहा गया है कि जो लोग भगवान् कृष्ण को देवताओं की कोटि में चाहे वे ब्रह्मा या शिव ही क्यों न हो, मानते हैं वे पाखण्डी हो जाते हैं, किन्तु यदि कोई ध्यानपूर्वक कृष्ण की विभूतियों एवं उनकी शक्ति के अंशों का अध्ययन करता है तो वह बिना किसी संशय के भगवान् कृष्ण की स्थिति को समझ सकता है और अविचल भाव से कृष्ण की पूजा में स्थिर हो सकता है। भगवान् अपने अंश के विस्तार से परमात्मा रूप में सर्वव्यापी हैं, जो हर विद्यमान वस्तु में प्रवेश करता है। अतः शुद्धभक्त पूर्णभक्ति में कृष्णभावनामृत में अपने मनों को एकाग्र करते हैं। अतएव वे नित्य दिव्य पद में स्थित रहते हैं। इस अध्याय के श्लोक ८ से ११ तक कृष्ण की भक्ति तथा पूजा का स्पष्ट संकेत है। शुद्धभक्ति की यही विधि है। इस अध्याय में इसकी भलीभाँति व्याख्या की गई है कि मनुष्य भगवान् की संगति में किस प्रकार चरम भक्ति-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। कृष्ण-परम्परा के महान आचार्य श्रील बलदेव विद्याभूषण इस अध्याय की टीका का समापन इस कथन से करते हैं—

यच्छक्तिलेशात्सूर्याद्या भवन्त्यत्युग्रतेजसः।
यदंशेन धृतं विश्वं स कृष्णो दशमेऽर्च्यते॥

प्रबल सूर्य भी कृष्ण की शक्ति से अपनी शक्ति प्राप्त करता है और सारे संसार का पालन कृष्ण के एक लघु अंश द्वारा होता है। अतः श्रीकृष्ण पूजनीय हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता *के दसवें अध्याय "श्रीभगवान् का ऐश्वर्य" का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।*

अध्याय ग्यारह

विराट रूप

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥१॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **मत्-अनुग्रहाय**—मुझपर कृपा करने के लिए; **परमम्**—परम; **गुह्यम्**—गोपनीय; **अध्यात्म**—आध्यात्मिक; **संज्ञितम्**—नाम से जाना जाने वाला, विषयक; **यत्**—जो; **त्वया**—आपके द्वारा; **उक्तम्**—कहे गये; **वचः**—शब्द; **तेन**—उससे; **मोहः**—मोह; **अयम्**—यह; **विगतः**—हट गया; **मम**—मेरा।

अर्जुन ने कहा—आपने जिन अत्यन्त गुह्य आध्यात्मिक विषयों का मुझे उपदेश दिया है, उसे सुनकर अब मेरा मोह दूर हो गया है।

तात्पर्य : इस अध्याय में कृष्ण को समस्त कारणों के कारण के रूप में दिखाया गया है। यहाँ तक कि वे उन महाविष्णु के भी कारण स्वरूप हैं, जिनसे भौतिक ब्रह्माण्डों का उद्भव होता है। कृष्ण अवतार नहीं हैं, वे समस्त अवतारों के उद्गम हैं। इसकी पूर्ण व्याख्या पिछले अध्याय में की गई है।

अब जहाँ तक अर्जुन की बात है, उसका कहना है कि उसका मोह दूर हो गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह कृष्ण को अपना मित्र स्वरूप सामान्य मनुष्य नहीं मानता, अपितु उन्हें प्रत्येक वस्तु का कारण मानता है। अर्जुन अत्यधिक प्रबुद्ध हो चुका है और उसे प्रसन्नता है कि उसे कृष्ण जैसा मित्र मिला है, किन्तु अब वह यह सोचता है कि भले ही वह कृष्ण को हर एक वस्तु का कारण मान ले, किन्तु दूसरे लोग नहीं मानेंगे। अतः इस अध्याय में वह सबों के लिए कृष्ण की अलौकिकता स्थापित करने के लिए कृष्ण से प्रार्थना करता है कि वे अपना विराट रूप दिखलाएँ। वस्तुतः जब कोई अर्जुन की ही तरह कृष्ण के विराट रूप का दर्शन करता है, तो वह डर जाता है, किन्तु कृष्ण इतने दयालु हैं कि इस स्वरूप को दिखाने के तुरन्त बाद वे अपना मूलरूप धारण कर लेते हैं। अर्जुन कृष्ण के इस कथन को बार बार स्वीकार करता है कि वे उसके लाभ के लिए ही सब कुछ बता रहे हैं। अतः अर्जुन इसे स्वीकार करता है कि यह सब कृष्ण की कृपा से घटित हो रहा है। अब उसे पूरा विश्वास हो चुका है कि कृष्ण समस्त कारणों के कारण हैं और परमात्मा के रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान हैं।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्॥२॥

भव—उत्पत्ति; **अप्ययौ**—लय (प्रलय); **हि**—निश्चय ही; **भूतानाम्**—समस्त जीवों का; **श्रुतौ**—सुना गया है; **विस्तरशः**—विस्तारपूर्वक; **मया**—मेरे द्वारा; **त्वत्तः**—आपसे; **कमल-पत्र-अक्ष**—हे कमल नयन; **माहात्म्यम्**—महिमा; **अपि**—भी; **च**—तथा; **अव्ययम्**—अक्षय, अविनाशी।

हे कमलनयन! मैंने आपसे प्रत्येक जीव की उत्पत्ति तथा लय के विषय में विस्तार से सुना है और आपकी अक्षय महिमा का अनुभव किया है।

तात्पर्य : अर्जुन यहाँ पर प्रसन्नता के मारे कृष्ण को कमलनयन (कृष्ण के नेत्र कमल के फूल की पंखड़ियों जैसे दिखते हैं) कहकर सम्बोधित करता है क्योंकि उन्होंने किसी पिछले अध्याय में उसे विश्वास दिलाया है—*अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा*—मैं इस सम्पूर्ण भौतिक जगत की उत्पत्ति तथा प्रलय का कारण हूँ। अर्जुन इसके विषय में भगवान् से विस्तारपूर्वक सुन चुका है। अर्जुन को यह भी ज्ञात है कि समस्त उत्पत्ति तथा प्रलय के कारण होने के अतिरिक्त वे इन सबसे पृथक् (असंग) रहते हैं। जैसा कि भगवान् ने नवें अध्याय में कहा है कि वे सर्वव्यापी हैं, तो भी वे सर्वत्र स्वयं उपस्थित नहीं रहते। यही कृष्ण का अचिन्त्य ऐश्वर्य है, जिसे अर्जुन स्वीकार करता है कि उसने भलीभाँति समझ लिया है।

एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम॥३॥

एवम्—इस प्रकार; **एतत्**—यह; **यथा**—जिस प्रकार; **आत्थ**—कहा है; **त्वम्**—आपने; **आत्मानम्**—अपने आपको; **परम-ईश्वर**—हे परमेश्वर; **द्रष्टुम्**—देखने के लिए; **इच्छामि**—इच्छा करता हूँ; **ते**—आपका; **रूपम्**—रूप; **ऐश्वरम्**—दैवी; **पुरुष-उत्तम**—हे पुरुषों में उत्तम।

हे पुरुषोत्तम, हे परमेश्वर! यद्यपि आपको मैं अपने समक्ष आपके द्वारा वर्णित आपके वास्तविक रूप में देख रहा हूँ, किन्तु मैं यह देखने का इच्छुक हूँ कि आप इस दृश्य जगत में किस प्रकार प्रविष्ट हुए हैं। मैं आपके उसी रूप का दर्शन करना चाहता हूँ।

तात्पर्य : भगवान् ने यह कहा कि उन्होंने अपने साक्षात् स्वरूप में ब्रह्माण्ड के भीतर प्रवेश किया है, फलतः यह दृश्यजगत सम्भव हो सका है और चल रहा है। जहाँ तक अर्जुन का सम्बन्ध है, वह कृष्ण के कथनों से प्रोत्साहित है, किन्तु भविष्य में उन लोगों को विश्वास दिलाने के लिए, जो कृष्ण को सामान्य पुरुष सोच सकते हैं, अर्जुन चाहता है कि वह भगवान् को उनके विराट रूप में देखे जिससे वे ब्रह्माण्ड के भीतर से काम करते हैं, यद्यपि वे इससे पृथक् हैं। अर्जुन द्वारा भगवान् के लिए *पुरुषोत्तम* सम्बोधन भी महत्त्वपूर्ण है। चूँकि वे भगवान् हैं, इसलिए वे स्वयं अर्जुन के भी भीतर उपस्थित हैं, अतः वे अर्जुन की इच्छा को जानते हैं। वे यह समझते हैं कि अर्जुन को उनके विराट रूप का दर्शन करने की कोई लालसा नहीं है, क्योंकि वह उनको साक्षात् देखकर पूर्णतया संतुष्ट है। किन्तु भगवान् यह भी जानते हैं कि अर्जुन अन्यों को विश्वास दिलाने के लिए ही विराट रूप का दर्शन करना चाहता है। अर्जुन को इसकी पुष्टि के लिए कोई व्यक्तिगत इच्छा न थी। कृष्ण यह भी जानते हैं कि अर्जुन विराट रूप का दर्शन एक आदर्श स्थापित करने के लिए करना चाहता है, क्योंकि भविष्य में ऐसे अनेक धूर्त होंगे जो अपने आपको ईश्वर का अवतार बताएँगे। अतः लोगों को सावधान रहना होगा। जो कोई अपने को कृष्ण कहेगा, उसे अपने दावे की पुष्टि के लिए विराट रूप दिखाने के लिए सन्नद्ध रहना होगा।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्॥ ४॥

मन्यसे—तुम सोचते हो; **यदि**—यदि; **तत्**—वह; **शक्यम्**—समर्थ; **मया**—मेरे द्वारा; **द्रष्टुम्**—देखे जाने के लिए; **इति**—इस प्रकार; **प्रभो**—हे स्वामी; **योग-ईश्वर**—हे योगेश्वर; **ततः**—तब; **मे**—मुझे; **त्वम्**—आप; **दर्शय**—दिखलाइये; **आत्मानम्**—अपने स्वरूप को; **अव्ययम्**—शाश्वत।

हे प्रभु! हे योगेश्वर! यदि आप सोचते हैं कि मैं आपके विश्वरूप को देखने में समर्थ हो सकता हूँ, तो कृपा करके मुझे अपना असीम विश्वरूप दिखलाइये।

तात्पर्य : ऐसा कहा जाता है कि भौतिक इन्द्रियों द्वारा न तो परमेश्वर कृष्ण को कोई देख सकता है, न सुन सकता है और न अनुभव कर सकता है। किन्तु यदि कोई प्रारम्भ से भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगा रहे, तो वह भगवान् का साक्षात्कार करने में समर्थ हो सकता है। प्रत्येक जीव आध्यात्मिक स्फुलिंग मात्र है, अतः परमेश्वर को जान पाना या देख पाना सम्भव नहीं है। भक्तरूप में अर्जुन को अपनी चिन्तनशक्ति पर भरोसा नहीं है, वह जीवात्मा होने के कारण अपनी सीमाओं को और कृष्ण की अकल्पनीय स्थिति को स्वीकार करता है। अर्जुन समझ चुका था कि एक क्षुद्रजीव के लिए असीम अनन्त

को समझ पाना सम्भव नहीं है। यदि अनन्त स्वयं प्रकट हो जाए, तो अनन्त की कृपा से ही उसकी प्रकृति को समझा जा सकता है। यहाँ पर *योगेश्वर* शब्द भी अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि भगवान् के पास अचिन्त्य शक्ति है। यदि वे चाहें तो असीम होकर भी अपने आपको प्रकट कर सकते हैं। अतः अर्जुन कृष्ण की अकल्पनीय कृपा की याचना करता है। वह कृष्ण को आदेश नहीं देता। जब तक कोई उनकी शरण में नहीं जाता और भक्ति नहीं करता, कृष्ण अपने को प्रकट करने के लिए बाध्य नहीं हैं। अतः जिन्हें अपनी चिन्तनशक्ति (मनोधर्म) का भरोसा है, वे कृष्ण का दर्शन नहीं कर पाते।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च॥ ५॥

श्रीभगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; **पश्य**—देखो; **मे**—मेरा; **पार्थ**—हे पृथापुत्र; **रूपाणि**—रूप; **शतशः**—सैकड़ों; **अथ**—भी; **सहस्रशः**—हजारों; **नाना-विधानि**—नाना रूप वाले; **दिव्यानि**—दिव्य; **नाना**—नाना प्रकार के; **वर्ण**—रंग; **आकृतीनि**—रूप; **च**—भी।

भगवान् ने कहा—हे अर्जुन, हे पार्थ! अब तुम मेरे ऐश्वर्य को, सैकड़ों-हजारों प्रकार के दैवी तथा विविध रंगों वाले रूपों को देखो।

तात्पर्य : अर्जुन कृष्ण के विश्वरूप का दर्शनाभिलाषी था, जो दिव्य होकर भी दृश्य जगत् के लाभार्थ प्रकट होता है। फलतः वह प्रकृति के अस्थाई काल द्वारा प्रभावित है। जिस प्रकार प्रकृति (माया) प्रकट-अप्रकट है, उसी तरह कृष्ण का यह विश्वरूप भी प्रकट तथा अप्रकट होता रहता है। यह कृष्ण के अन्य रूपों की भाँति वैकुण्ठ में नित्य नहीं रहता। जहाँ तक भक्त की बात है, वह विश्वरूप देखने के लिए तनिक भी इच्छुक नहीं रहता, लेकिन चूँकि अर्जुन कृष्ण को इस रूप में देखना चाहता था, अतः वे यह रूप प्रकट करते हैं। सामान्य व्यक्ति इस रूप को नहीं देख सकता। श्रीकृष्ण द्वारा शक्ति प्रदान किये जाने पर ही इसके दर्शन हो सकते हैं।

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत॥ ६॥

पश्य—देखो; **आदित्यान्**—अदिति के बारहों पुत्रों को; **वसून्**—आठों वसुओं को; **रुद्रान्**—रुद्र के ग्यारह रूपों को; **अश्विनौ**—दो अश्विनी कुमारों को; **मरुतः**—उञ्चासों मरुतों को; **तथा**—भी; **बहूनि**—अनेक; **अदृष्ट**—न देखे हुए; **पूर्वाणि**—पहले, इसके पूर्व; **पश्य**—देखो; **आश्चर्याणि**—समस्त आश्चर्यों को; **भारत**—हे भरतवंशियों में श्रेष्ठ।

हे भारत! लो, तुम आदित्यों, वसुओं, रुद्रों, अश्विनीकुमारों तथा अन्य देवताओं के विभिन्न रूपों को यहाँ देखो। तुम ऐसे अनेक आश्चर्यमय रूपों को देखो, जिन्हें पहले किसी ने न तो कभी देखा है, न सुना है।

तात्पर्य : यद्यपि अर्जुन कृष्ण का अन्तरंग सखा तथा अत्यन्त विद्वान था, तो भी वह

उनके विषय में सब कुछ नहीं जानता था। यहाँ पर यह कहा गया है कि इन समस्त रूपों को न तो मनुष्यों ने इसके पूर्व देखा है, न सुना है। अब कृष्ण इन आश्चर्यमय रूपों को प्रकट कर रहे हैं।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥ ७॥

इह—इसमें; **एक-स्थम्**—एक स्थान में; **जगत्**—ब्रह्माण्ड; **कृत्स्नम्**—पूर्णतया; **पश्य**—देखो; **अद्य**—तुरन्त; **स**—सहित; **चर**—जंगम; **अचरम्**—तथा अचर, जड़; **मम**—मेरे; **देहे**—शरीर में; **गुडाकेश**—हे अर्जुन; **यत्**—जो; **च**—भी; **अन्यत्**—अन्य, और; **द्रष्टुम्**—देखना; **इच्छसि**—चाहते हो।

हे अर्जुन! तुम जो भी देखना चाहो, उसे तत्क्षण मेरे इस शरीर में देखो। तुम इस समय तथा भविष्य में भी जो भी देखना चाहते हो, उसको यह विश्वरूप दिखाने वाला है। यहाँ एक ही स्थान पर चर-अचर सब कुछ है।

तात्पर्य : कोई भी व्यक्ति एक स्थान में बैठे-बैठे सारा विश्व नहीं देख सकता। यहाँ तक कि बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी यह नहीं देख सकता कि ब्रह्माण्ड के अन्य भागों में क्या हो रहा है। किन्तु अर्जुन जैसा भक्त यह देख सकता है कि सारी वस्तुएँ जगत् में कहाँ-कहाँ स्थित हैं। कृष्ण उसे शक्ति प्रदान करते हैं, जिससे वह भूत, वर्तमान तथा भविष्य, जो कुछ देखना चाहे, देख सकता है। इस तरह अर्जुन कृष्ण के अनुग्रह से सारी वस्तुएँ देखने में समर्थ है।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्॥ ८॥

न—कभी नहीं; **तु**—लेकिन; **माम्**—मुझको; **शक्यसे**—तुम समर्थ होगे; **द्रष्टुम्**—देखने में; **अनेन**—इन; **एव**—निश्चय ही; **स्व-चक्षुषा**—अपनी आँखों से; **दिव्यम्**—दिव्य; **ददामि**—देता हूँ; **ते**—तुमको; **चक्षुः**—आँखें; **पश्य**—देखो; **मे**—मेरी; **योगम् ऐश्वरम्**—अचिन्त्य योगशक्ति।

किन्तु तुम मुझे अपनी इन आँखों से नहीं देख सकते। अतः मैं तुम्हें दिव्य आँखें दे रहा हूँ। अब मेरे योग ऐश्वर्य को देखो।

तात्पर्य : शुद्धभक्त कृष्ण को, उनके दोभुजी रूप के अतिरिक्त, अन्य किसी भी रूप में देखने की इच्छा नहीं करता। भक्त को भगवत्कृपा से ही उनके विराट रूप का दर्शन दिव्य चक्षुओं (नेत्रों) से करना होता है, न कि मन से। कृष्ण के विराट रूप का दर्शन करने के लिए अर्जुन से कहा जाता है कि वह अपने मन को नहीं, अपितु दृष्टि को बदले। कृष्ण का यह विराट रूप कोई महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह बाद के श्लोकों से पता चल जाएगा। फिर भी, चूँकि अर्जुन इसका दर्शन करना चाहता था, अतः भगवान् ने उसे इस विराट रूप को देखने के लिए विशिष्ट दृष्टि प्रदान की।

जो भक्त कृष्ण के साथ दिव्य सम्बन्ध से बँधे हैं, वे उनके ऐश्वर्यों के ईश्वरविहीन प्रदर्शनों से नहीं, अपितु उनके प्रेममय स्वरूपों से आकृष्ट होते हैं। कृष्ण के बालसंगी,

कृष्ण के सखा तथा कृष्ण के माता-पिता यह कभी नहीं चाहते कि कृष्ण उन्हें अपने ऐश्वर्यों का प्रदर्शन कराएँ। वे तो शुद्ध प्रेम में इतने निमग्न रहते हैं कि उन्हें पता ही नहीं चलता कि कृष्ण भगवान् हैं। वे प्रेम के आदान-प्रदान में इतने विभोर रहते हैं कि वे भूल जाते हैं कि श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि कृष्ण के साथ खेलने वाले बालक अत्यन्त पवित्र आत्माएँ हैं और कृष्ण के साथ इस प्रकार खेलने का अवसर उन्हें अनेकानेक जन्मों के बाद प्राप्त हुआ है। ऐसे बालक यह नहीं जानते कि कृष्ण भगवान् हैं। वे उन्हें अपना निजी मित्र मानते हैं। अतः शुकदेव गोस्वामी यह श्लोक सुनाते हैं—

इत्थं सतां ब्रह्म-सुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन ।
मायाश्रितानां नरदारकेण
साकं विजह्रुः कृत-पुण्य-पुञ्जाः ॥

"यह वह परमपुरुष है, जिसे ऋषिगण निर्विशेष ब्रह्म करके मानते हैं, भक्तगण भगवान् मानते हैं और सामान्यजन प्रकृति से उत्पन्न हुआ मानते हैं। ये बालक, जिन्होंने अपने पूर्वजन्मों में अनेक पुण्य किये हैं, अब उसी भगवान् के साथ खेल रहे हैं।" (*श्रीमद्भागवत* १०.१२.११)।

तथ्य तो यह है कि भक्त विश्वरूप को देखने का इच्छुक नहीं रहता, किन्तु अर्जुन कृष्ण के कथनों की पुष्टि करने के लिए विश्वरूप का दर्शन करना चाहता था, जिससे भविष्य में लोग यह समझ सकें कि कृष्ण न केवल सैद्धान्तिक या दार्शनिक रूप से अर्जुन के समक्ष प्रकट हुए, अपितु साक्षात् रूप में प्रकट हुए थे। अर्जुन को इसकी पुष्टि करनी थी, क्योंकि अर्जुन से ही परम्परा-पद्धति प्रारम्भ होती है। जो लोग वास्तव में भगवान् को समझना चाहते हैं और अर्जुन के पदचिन्हों का अनुसरण करना चाहते हैं, उन्हें यह जान लेना चाहिए कि कृष्ण न केवल सैद्धान्तिक रूप में, अपितु वास्तव में अर्जुन के समक्ष परमेश्वर के रूप में प्रकट हुए।

भगवान् ने अर्जुन को अपना विश्वरूप देखने के लिए आवश्यक शक्ति प्रदान की, क्योंकि वे जानते थे कि अर्जुन इस रूप को देखने के लिए विशेष इच्छुक न था, जैसा कि हम पहले बतला चुके हैं।

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्॥ ९॥

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; **एवम्**—इस प्रकार; **उक्त्वा**—कहकर; **ततः**—तत्पश्चात्; **राजन्**—हे राजा; **महा-योग-ईश्वरः**—परम शक्तिशाली योगी; **हरिः**—भगवान् कृष्ण ने; **दर्शयाम् आस**—दिखलाया; **पार्थाय**—अर्जुन को; **परमम्**—दिव्य; **रूपम् ऐश्वरम्**—विश्वरूप।

संजय ने कहा—हे राजा! इस प्रकार कहकर महायोगेश्वर भगवान् ने अर्जुन को अपना विश्वरूप दिखलाया।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अनेक—कई; **वक्त्र**—मुख; **नयनम्**—नेत्र; **अनेक**—अनेक; **अद्भुत**—विचित्र; **दर्शनम्**—दृश्य; **अनेक**—अनेक; **दिव्य**—दिव्य, अलौकिक; **आभरणम्**—आभूषण; **दिव्य**—दैवी; **अनेक**—विविध; **उद्यत**—उठाये हुए; **आयुधम्**—हथियार; **दिव्य**—दिव्य; **माल्य**—मालाएँ; **अम्बर**—वस्त्र; **धरम्**—धारण किये; **दिव्य**—दिव्य; **गन्ध**—सुगन्धियाँ; **अनुलेपनम्**—लगी थीं; **सर्व**—समस्त; **आश्चर्य-मयम्**—आश्चर्यपूर्ण; **देवम्**—प्रकाशयुक्त; **अनन्तम्**—असीम; **विश्वतः-मुखम्**—सर्वव्यापी ।

अर्जुन ने उस विश्वरूप में असंख्य मुख, असंख्य नेत्र तथा असंख्य आश्चर्यमय दृश्य देखे। यह रूप अनेक दैवी आभूषणों से अलंकृत था और अनेक दैवी हथियार उठाये हुए था। यह दैवी मालाएँ तथा वस्त्र धारण किये था और उस पर अनेक दिव्य सुगन्धियाँ लगी थीं। सब कुछ आश्चर्यमय, तेजमय, असीम तथा सर्वत्र व्याप्त था।

तात्पर्य : इन दोनों श्लोकों में *अनेक* शब्द का बारम्बार प्रयोग हुआ है, जो यह सूचित करता है कि अर्जुन जिस रूप को देख रहा था उसके हाथों, मुखों, पाँवों की कोई सीमा न थी। ये रूप सारे ब्रह्माण्ड में फैले हुए थे, किन्तु भगवत्कृपा से अर्जुन उन्हें एक स्थान पर बैठे-बैठे देख रहा था। यह सब कृष्ण की अचिन्त्य शक्ति के कारण था।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

दिवि—आकाश में; **सूर्य**—सूर्य का; **सहस्रस्य**—हजारों; **भवेत्**—थे; **युगपत्**—एकसाथ; **उत्थिता**—उपस्थित; **यदि**—यदि; **भाः**—प्रकाश; **सदृशी**—के समान; **सा**—वह; **स्यात्**—हो; **भासः**—तेज; **तस्य**—उस; **महात्मनः**—परम स्वामी का।

यदि आकाश में हजारों सूर्य एकसाथ उदय हों, तो उनका प्रकाश शायद परमपुरुष के इस विश्वरूप के तेज की समता कर सके।

तात्पर्य : अर्जुन ने जो कुछ देखा वह अकथ्य था, तो भी संजय धृतराष्ट्र को उस महान दर्शन का मानसिक चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न कर रहा है। न तो संजय वहाँ था, न धृतराष्ट्र, किन्तु व्यासदेव के अनुग्रह से संजय सारी घटनाओं को देख सकता है। अतएव इस स्थिति की तुलना वह एक काल्पनिक घटना (हजारों सूर्यों) से कर रहा है, जिससे इसे समझा जा सके।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

तत्र–वहाँ; **एक-स्थम्**–एकत्र, एक स्थान में; **जगत्**–ब्रह्माण्ड; **कृत्स्नम्**–सम्पूर्ण; **प्रविभक्तम्**–विभाजित; **अनेकधा**–अनेक में; **अपश्यत्**–देखा; **देव-देवस्य**–भगवान् के; **शरीरे**–विश्वरूप में; **पाण्डवः**–अर्जुन ने; **तदा**–तब।

उस समय अर्जुन भगवान् के विश्वरूप में एक ही स्थान पर स्थित हजारों भागों में विभक्त ब्रह्माण्ड के अनन्त अंशों को देख सका।

तात्पर्य : *तत्र* (वहाँ) शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे सूचित होता है कि जब अर्जुन ने विश्वरूप देखा, उस समय अर्जुन तथा कृष्ण दोनों ही रथ पर बैठे थे। युद्धभूमि के अन्य लोग इस रूप को नहीं देख सके, क्योंकि कृष्ण ने केवल अर्जुन को दृष्टि प्रदान की थी। वह कृष्ण के शरीर में हजारों लोक देख सका। जैसा कि वैदिक शास्त्रों से पता चलता है कि ब्रह्माण्ड अनेक हैं और लोक भी अनेक हैं। इनमें से कुछ मिट्टी के बने हैं, कुछ सोने के, कुछ रत्नों के, कुछ बहुत बड़े हैं, तो कुछ बहुत बड़े नहीं हैं। अपने रथ पर बैठकर अर्जुन इन सबों को देख सकता था। किन्तु कोई यह नहीं जान पाया कि अर्जुन तथा कृष्ण के बीच क्या चल रहा था।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत॥ १४॥

ततः–तत्पश्चात्; **सः**–वह; **विस्मय-आविष्टः**–आश्चर्यचकित होकर; **हृष्ट-रोमा**–हर्ष से रोमांचित; **धनञ्जयः**–अर्जुन; **प्रणम्य**–प्रणाम करके; **शिरसा**–शिर के बल; **देवम्**–भगवान् को; **कृत-अञ्जलिः**–हाथ जोड़कर; **अभाषत**–कहने लगा।

तब मोहग्रस्त एवं आश्चर्यचकित रोमांचित हुए अर्जुन ने प्रणाम करने के लिए मस्तक झुकाया और वह हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना करने लगा।

तात्पर्य : एक बार दिव्य दर्शन हुआ नहीं कि कृष्ण तथा अर्जुन के पारस्परिक सम्बन्ध तुरन्त बदल गये। अभी तक कृष्ण तथा अर्जुन में मैत्री सम्बन्ध था, किन्तु दर्शन होते ही अर्जुन अत्यन्त आदरपूर्वक प्रणाम कर रहा है और हाथ जोड़कर कृष्ण से प्रार्थना कर रहा है। वह उनके विश्वरूप की प्रशंसा कर रहा है। इस प्रकार अर्जुन का सम्बन्ध मित्रता का न रहकर आश्चर्य का बन जाता है। बड़े-बड़े भक्त कृष्ण को समस्त सम्बन्धों का आगार मानते हैं। शास्त्रों में १२ प्रकार के सम्बन्धों का उल्लेख है और ये सब कृष्ण में निहित हैं। यह कहा जाता है कि वे दो जीवों के बीच, देवताओं के बीच या भगवान् तथा भक्त के बीच के पारस्परिक आदान-प्रदान होने वाले सम्बन्धों के सागर हैं।

यहाँ पर अर्जुन आश्चर्य-सम्बन्ध से प्रेरित है और उसीमें वह अत्यन्त गम्भीर तथा शान्त होते हुए भी अत्यन्त आह्लादित हो उठा। उसके रोम खड़े हो गये और वह हाथ जोड़कर भगवान् की प्रार्थना करने लगा। निस्सन्देह वह भयभीत नहीं था। वह भगवान् के आश्चर्यों से अभिभूत था। इस समय तो उसके समक्ष आश्चर्य था और उसकी प्रेमपूर्ण मित्रता आश्चर्य से अभिभूत थी। अतः उसकी प्रतिक्रिया इस प्रकार हुई।

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव देहे
सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थ-
मृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्॥ १५॥

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; **पश्यामि**—देखता हूँ; **देवान्**—समस्त देवताओं को; **तव**—आपके; **देव**—हे प्रभु; **देहे**—शरीर में; **सर्वान्**—समस्त; **तथा**—भी; **भूत**—जीव; **विशेष-सङ्घान्**—विशेष रूप से एकत्रित; **ब्रह्माणम्**—ब्रह्मा को; **ईशम्**—शिव को; **कमल-आसन-स्थम्**—कमल के ऊपर आसीन; **ऋषीन्**—ऋषियों को; **च**—भी; **सर्वान्**—समस्त; **उरगान्**—सर्पों को; **च**—भी; **दिव्यान्**—दिव्य।

अर्जुन ने कहा—हे भगवान् कृष्ण! मैं आपके शरीर में सारे देवताओं तथा अन्य विविध जीवों को एकत्र देख रहा हूँ। मैं कमल पर आसीन ब्रह्मा, शिवजी तथा समस्त ऋषियों एवं दिव्य सर्पों को देख रहा हूँ।

तात्पर्य : अर्जुन ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु देखता है, अतः वह ब्रह्माण्ड के प्रथम प्राणी ब्रह्मा को तथा उस दिव्य सर्प को, जिस पर गर्भोदकशायी विष्णु ब्रह्माण्ड के अधोतल में शयन करते हैं, देखता है। इस शेष-शय्या के नाग को वासुकि भी कहते है। अन्य सर्पों को भी वासुकि कहा जाता है। अर्जुन गर्भोदकशायी विष्णु से लेकर कमललोक स्थित ब्रह्माण्ड के शीर्षस्थ भाग को जहाँ ब्रह्माण्ड के प्रथम जीव ब्रह्मा निवास करते हैं, देख सकता है। इसका अर्थ यह है कि अर्जुन आदि से अन्त तक की सारी वस्तुएँ अपने रथ में एक ही स्थान पर बैठे-बैठे देख सकता था। यह सब भगवान् कृष्ण की कृपा से ही सम्भव हो सका।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं
पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं
पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप॥ १६॥

अनेक—कई; **बाहु**—भुजाएँ; **उदर**—पेट; **वक्त्र**—मुख; **नेत्रम्**—आँखें; **पश्यामि**—देख रहा हूँ; **त्वाम्**—आपको; **सर्वतः**—चारों ओर; **अनन्त-रूपम्**—असंख्य रूप; **न अन्तम्**—अन्तहीन, कोई अन्त नहीं है; **न मध्यम्**—मध्य रहित; **न पुनः**—न फिर; **तव**—आपका; **आदिम्**—प्रारम्भ; **पश्यामि**—देखता हूँ; **विश्व-ईश्वर**—हे ब्रह्माण्ड के स्वामी; **विश्वरूप**—ब्रह्माण्ड के रूप में।

हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप! मैं आपके शरीर में अनेकानेक हाथ, पेट, मुँह तथा आँखें देख रहा हूँ, जो सर्वत्र फैले हैं और जिनका अन्त नहीं है। आपमें न अन्त दीखता है, न मध्य और न आदि।

तात्पर्य : कृष्ण भगवान् हैं और असीम हैं, अतः उनके माध्यम से सब कुछ देखा जा सकता था।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च
तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ता-
द्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥१७॥

किरीटिनम्—मुकुट युक्त; **गदिनम्**—गदा धारण किये; **चक्रिणम्**—चक्र समेत; **च**—तथा; **तेजःराशिम्**—तेज; **सर्वतः**—चारों ओर; **दीप्ति-मन्तम्**—प्रकाश युक्त; **पश्यामि**—देखता हूँ; **त्वाम्**—आपको; **दुर्निरीक्ष्यम्**—देखने में कठिन; **समन्तात्**—सर्वत्र; **दीप्त-अनल**—प्रज्ज्वलित अग्नि; **अर्क**—सूर्य की; **द्युतिम्**—धूप; **अप्रमेयम्**—अनन्त।

आपके रूप को उसके चकाचौंध तेज के कारण देख पाना कठिन है, क्योंकि वह प्रज्ज्वलित अग्नि की भाँति अथवा सूर्य के अपार प्रकाश की भाँति चारों ओर फैल रहा है। तो भी मैं इस तेजोमय रूप को सर्वत्र देख रहा हूँ, जो अनेक मुकुटों, गदाओं तथा चक्रों से विभूषित है।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता
सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे॥१८॥

त्वम्—आप; **अक्षरम्**—अच्युत; **परमम्**—परम; **वेदितव्यम्**—जानने योग्य; **त्वम्**—आप; **अस्य**—इस; **विश्वस्य**—विश्व के; **परम्**—परम; **निधानम्**—आधार; **त्वम्**—आप; **अव्ययः**—अविनाशी; **शाश्वत-धर्म-गोप्ता**—शाश्वत धर्म के पालक; **सनातनः**—शाश्वत; **त्वम्**—आप; **पुरुषः**—परमपुरुष; **मतः मे**—मेरा मत है।

आप परम आद्य ज्ञेय वस्तु हैं। आप इस ब्रह्माण्ड के परम आधार (आश्रय) हैं। आप अव्यय तथा पुराण पुरुष हैं। आप सनातन धर्म के पालक भगवान् हैं। यही मेरा मत है।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य-
मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं
स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्॥१९॥

अनादि—आदिरहित; **मध्य**—मध्य; **अन्तम्**—या अन्त; **अनन्त**—असीम; **वीर्यम्**—महिमा; **अनन्त**—असंख्य; **बाहुम्**—भुजाएँ; **शशि**—चन्द्रमा; **सूर्य**—तथा सूर्य; **नेत्रम्**—आँखें; **पश्यामि**—देखता हूँ; **त्वाम्**—आपको; **दीप्त**—प्रज्ज्वलित; **हुताश-वक्त्रम्**—आपके मुख से निकलती अग्नि को; **स्व-तेजसा**—अपने तेज से; **विश्वम्**—विश्व को; **इदम्**—इस; **तपन्तम्**—तपाते हुए।

आप आदि, मध्य तथा अन्त से रहित हैं। आपका यश अनन्त है। आपकी असंख्य भुजाएँ हैं और सूर्य तथा चन्द्रमा आपकी आँखें हैं। मैं आपके मुख से प्रज्ज्वलित अग्नि निकलते और आपके तेज से इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जलते हुए देख रहा हूँ।

तात्पर्य : भगवान् के षड्ऐश्वर्यों की कोई सीमा नहीं है। यहाँ पर तथा अन्यत्र भी पुनरुक्ति पाई जाती है, किन्तु शास्त्रों के अनुसार कृष्ण की महिमा की पुनरुक्ति कोई साहित्यिक दोष नहीं है। कहा जाता है कि मोहग्रस्त होने या परम आह्लाद के समय या आश्चर्य होने पर कथनों की पुनरुक्ति हुआ करती है। यह कोई दोष नहीं है।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि
व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं
लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥२०॥

द्यौ—बाह्य आकाश से लेकर; **आ-पृथिव्योः**—पृथ्वी तक; **इदम्**—इस; **अन्तरम्**—मध्य में; **हि**—निश्चय ही; **व्याप्तम्**—व्याप्त; **त्वया**—आपके द्वारा; **एकेन**—अकेला; **दिशः**—दिशाएँ; **च**—तथा; **सर्वाः**—सभी; **दृष्ट्वा**—देखकर; **अद्भुतम्**—अद्भुत; **रूपम्**—रूप को; **उग्रम्**—भयानक; **तव**—आपके; **इदम्**—इस; **लोक**—लोक; **त्रयम्**—तीन; **प्रव्यथितम्**—भयभीत, विचलित; **महा-आत्मन्**—हे महापुरुष।

यद्यपि आप एक हैं, किन्तु आप आकाश तथा सारे लोकों एवं उनके बीच के समस्त अवकाश में व्याप्त हैं। हे महापुरुष! आपके इस अद्भुत तथा भयानक रूप को देखकर सारे लोक भयभीत हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *द्याव्-आ-पृथिव्योः* (धरती तथा आकाश के बीच का स्थान) तथा *लोकत्रयम्* (तीनों संसार) महत्त्वपूर्ण शब्द हैं, क्योंकि ऐसा लगता है कि न केवल अर्जुन ने इस विश्वरूप को देखा, बल्कि अन्य लोकों के वासियों ने भी इसे देखा। अर्जुन द्वारा विश्वरूप का दर्शन स्वप्न न था। भगवान् ने जिन जिनको दिव्य दृष्टि प्रदान की, उन्होंने युद्धक्षेत्र में उस विश्वरूप को देखा।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति
केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः
स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥

अमी—वे सब; **हि**—निश्चय ही; **त्वाम्**—आपको; **सुर-सङ्घाः**—देव समूह; **विशन्ति**—प्रवेश कर रहे हैं; **केचित्**—उनमें से कुछ; **भीताः**—भयवश; **प्राञ्जलयः**—हाथ जोड़े; **गृणन्ति**—स्तुति कर रहे हैं; **स्वस्ति**—कल्याण हो; **इति**—इस प्रकार; **उक्त्वा**—कहकर; **महा-ऋषि**—महर्षिगण; **सिद्ध-सङ्घाः**—सिद्ध लोग; **स्तुवन्ति**—स्तुति कर रहे हैं; **त्वाम्**—आपकी; **स्तुतिभिः**—प्रार्थनाओं से; **पुष्कलाभिः**—वैदिक स्तोत्रों से।

देवों का सारा समूह आपकी शरण ले रहा है और आपमें प्रवेश कर रहा है। उनमें से कुछ अत्यन्त भयभीत होकर हाथ जोड़े आपकी प्रार्थना कर रहे हैं। महर्षियों तथा सिद्धों के समूह "कल्याण हो" कहकर वैदिक स्तोत्रों का पाठ करते हुए आपकी स्तुति कर रहे हैं।

तात्पर्य : समस्त लोकों के देवता विश्वरूप की भयानकता तथा प्रदीप्त तेज से इतने भयभीत थे कि वे रक्षा के लिए प्रार्थना करने लगे।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या
विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा
वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ २२॥

रुद्र–शिव का रूप; **आदित्याः**–आदित्यगण; **वसवः**–सारे वसु; **ये**–जो; **च**–तथा; **साध्याः**–साध्य; **विश्वे**–विश्वेदेवता; **अश्विनौ**–अश्विनीकुमार; **मरुतः**–मरुद्गण; **च**–तथा; **उष्म-पाः**–पितर; **च**–तथा; **गन्धर्व**–गन्धर्व; **यक्ष**–यक्ष; **असुर**–असुर; **सिद्ध**–तथा सिद्ध देवताओं के; **सङ्घाः**–समूह; **वीक्षन्ते**–देख रहे हैं; **त्वाम्**–आपको; **विस्मिताः**–आश्चर्यचकित होकर; **च**–भी; **एव**–निश्चय ही; **सर्वे**–सब।

शिव के विविध रूप, आदित्यगण, वसु, साध्य, विश्वेदेव, दोनों अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, असुर तथा सिद्धदेव सभी आपको आश्चर्यपूर्वक देख रहे हैं।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं
महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं
दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥ २३॥

रूपम्–रूप; **महत्**–विशाल; **ते**–आपका; **बहु**–अनेक; **वक्त्र**–मुख; **नेत्रम्**–तथा आँखें; **महा-बाहो**–हे बलिष्ठ भुजाओं वाले; **बहु**–अनेक; **बाहु**–भुजाएँ; **ऊरु**–जाँघें; **पादम्**–तथा पाँव; **बहु-उदरम्**–अनेक पेट; **बहु-दंष्ट्रा**–अनेक दाँत; **करालम्**–भयानक; **दृष्ट्वा**–देखकर; **लोकाः**–सारे लोक; **प्रव्यथिताः**–विचलित; **तथा**–उसी प्रकार; **अहम्**–मैं।

हे महाबाहु! आपके इस अनेक मुख, नेत्र, बाहु, जंघा, पाँव, पेट तथा भयानक दाँतों वाले विराट रूप को देखकर देवतागण सहित सभी लोक अत्यन्त विचलित हैं और उन्हीं की तरह मैं भी हूँ।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं
व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।

दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा
धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

नभःस्पृशम्—आकाश छूता हुआ; **दीप्तम्**—ज्योतिर्मय; **अनेक**—कई; **वर्णम्**—रंग; **व्यात्त**—खुले हुए; **आननम्**—मुख; **दीप्त**—प्रदीप्त; **विशाल**—बड़ी-बड़ी; **नेत्रम्**—आँखें; **दृष्ट्वा**—देखकर; **हि**—निश्चय ही; **त्वाम्**—आपको; **प्रव्यथितः**—विचलित, भयभीत; **अन्तः**—भीतर; **आत्मा**—आत्मा; **धृतिम्**—दृढ़ता या धैर्य को; **न**—नहीं; **विन्दामि**—प्राप्त हूँ; **शमम्**—मानसिक शान्ति को; **च**—भी; **विष्णो**—हे विष्णु।

हे सर्वव्यापी विष्णु! नाना ज्योतिर्मय रंगों से युक्त आपको आकाश का स्पर्श करते, मुख फैलाये तथा बड़ी-बड़ी चमकती आँखें निकाले देखकर भय से मेरा मन विचलित है। मैं न तो धैर्य धारण कर पा रहा हूँ, न मानसिक संतुलन ही पा रहा हूँ।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि
दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

दंष्ट्रा—दाँत; **करालानि**—विकराल; **च**—भी; **ते**—आपके; **मुखानि**—मुखों को; **दृष्ट्वा**—देखकर; **एव**—इस प्रकार; **काल-अनल**—प्रलय की; **सन्नि-भानि**—मानो; **दिशः**—दिशाएँ; **न**—नहीं; **जाने**—जानता हूँ; **न**—नहीं; **लभे**—प्राप्त करता हूँ; **च**—तथा; **शर्म**—आनन्द; **प्रसीद**—प्रसन्न हों; **देव-ईश**—हे देवताओं के स्वामी; **जगत्-निवास**—हे समस्त जगतों के आश्रय।

हे देवेश! हे जगन्निवास! आप मुझ पर प्रसन्न हों। मैं इस प्रकार से आपके प्रलयाग्नि स्वरूप मुखों को तथा विकराल दाँतों को देखकर अपना सन्तुलन नहीं रख पा रहा। मैं सब ओर से मोहग्रस्त हो रहा हूँ।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः
सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ
सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति
दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु
सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

अमी—ये; **च**—भी; **त्वाम्**—आपको; **धृतराष्ट्रस्य**—धृतराष्ट्र के; **पुत्राः**—पुत्र; **सर्वे**—सभी; **सह**—सहित; **एव**—निस्सन्देह; **अवनि-पाल**—वीर राजाओं के; **सङ्घैः**—समूह; **भीष्मः**—भीष्मदेव; **द्रोणः**—द्रोणाचार्य; **सूत-पुत्रः**—कर्ण; **तथा**—भी; **असौ**—यह; **सह**—साथ; **अस्मदीयैः**—हमारे;